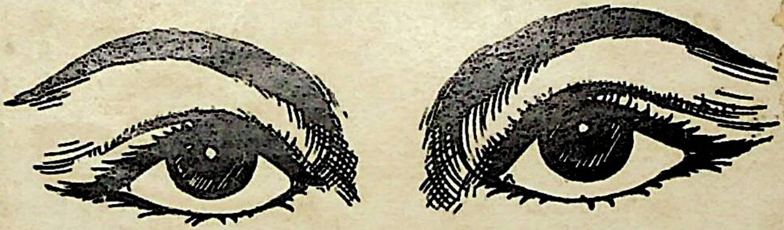
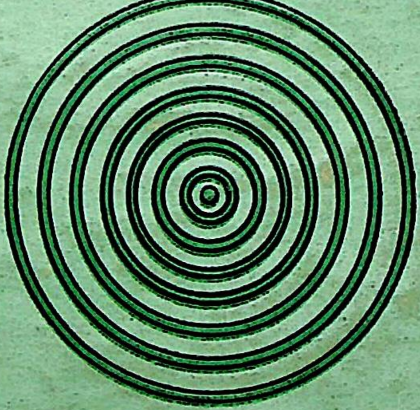
त्राटक द्वारा काम रूपान्तरण





त्राटक द्वारा काम-रूपांतरण

(काम की असाधारण शक्ति को संयमित, संशोधित, परिवर्तित और रूपांतरित करने की अनुभूत विधियों पर आधारित)

लेखक :—

डा० चमनलाल गौतम

रचयिता : त्राटक से मानसिक शांति, त्राटक से समाधि, त्राटक से आत्म साक्षात्कार, ध्यान की सरल साधनाएँ, ध्यान के गहरे प्रयोग, प्रेम की उच्च साधना, कुण्डलिनी जागरण, योग महाविज्ञान, नाद योग, प्राणायाम के असाधारण प्रयोग, अष्टाङ्ग योग सिद्धि, अष्टाङ्ग योग रहस्य आदि।

प्रकाशक :

संस्कृति संस्थान

ख्वाजाकुतुब, (वेद नगर), बरेली—२४३००३ (उ०प्र०)

फोन नं० ४२४२

प्रकाशक :
डॉ० चमन लाल गौतम
संस्कृति संस्थान
ख्वाजा कुतुब (वेद नगर)
बरेली २४३००३ (उ० प्र०)

★

लेखक :
डॉ० चमन लाल गौतम

★

★

प्रथम संस्करण
सन् १९८०

★

मुद्रक :
शैलेन्द्र बी० माहेश्वरी
नवज्योति प्रेस,
सेठ भीकचन्द मार्ग, मथुरा

★

मूल्य :
पाँच रुपए पच्चीस पैसे मात्र

भूमिका

काम में असाधारण शक्ति है, उससे सृष्टि रचना का महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न होता है जो अपने आप में एक चमत्कार प्रतीत होता है। काम का उचित उपयोग न किया जाए तो वह शक्ति खतरनाक सिद्ध होती है और जीवन धारा को पलट देती है। शारीरिक व मानसिक शक्तियाँ क्षीण होकर पतन का मार्ग प्रशस्त होता है। उत्थान का द्वार खोलने के लिए काम से लड़ना नहीं है, न उसका विरोध करना है, केवल उसका रूपांतरण करना है। रूपांतरण से निम्नगामी धारा उर्ध्वगामी हो जाती है।

त्राटक एक ऐसी सरल और वैज्ञानिक प्रक्रिया है जिससे काम का सहज में रूपांतरण होने लगता है। त्राटक सिद्धि होने पर साधक यह स्पष्ट रूप से अनुभव करने लगता है कि मानसिक स्थिरता के साथ उस की श्वाँस में परिवर्तन होने लगा है। श्वाँस शिथिल,कम और धीमी होने लगी है। श्वास के धीमी होने पर कामोत्तेजना शांत हो जाती है, विदा हो जाती है, उसका बने रहना सर्वथा असम्भव है। श्वास में अन्तर आने पर काम टूटता है, परिवर्तित होता, रूपांतरित होता है, संशोधित होता है। त्राटक साधना विकसित होने पर प्राकृतिक श्वांस चलने लगती है। बच्चा जब श्वांस लेता है तो उसका पेट हिलता है। यह प्राकृतिक श्वांस है। बड़ा आदमी जब श्वांस लेता है तो छाती हिलती है, यह अप्राकृतिक श्वांस है। प्राकृतिक श्वास लेने पर बच्चे की तरह चित्त सरल, सौम्य, शांत और निर्दोष हो जाता है। बुद्ध की जापानी मूर्तियों में पेट बड़ा और छाती छोटी है। सिद्ध पुरुष पेट से श्वास लेते हैं। पूर्ण शांत और निर्दोष रहते हैं। धन्य हैं वे लोग जिन्हें यह उच्च आध्यात्मिक स्थिति प्राप्त हो जाती है। त्राटक द्वारा इसे सुनिश्चित रूप से प्राप्त किया जा सकता है।

—डॉ० चमन लाल गौतम

विषय-सूची

त्राटक द्वारा काम-रूपांतरण

त्राटक की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि

त्राटक का शक्ति परिचय

मुख्य विषय पर आने से पहिले त्राटक के विषय में कुछ परिचय दिया जाना अपेक्षित होगा। त्राटक योग की एक अत्यन्त शक्तिशाली और सरल क्रिया है। यदि इसका अभ्यास किया जाय तो सफलता मिलने के अधिक कठिनाई नहीं होती।

त्राटक योग क्रियाएँ ध्यान का ही एक रूप है। ध्यान की क्रिया साकार और निराकार के भेद से मुख्यतः दो प्रकार की है। आरम्भिक साधक को ध्यान में सफलता प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम साकार ध्यान का अभ्यास ही अधिक सुविधाजनक होता है।

किसी रूप का निश्चय कीजिए और उस पर ध्यान लगाइए। परमात्मा के जिस स्वरूप को इष्ट समझते हैं, उसकी प्रतिमा, चित्र आदि सामने रखकर खुली आँखों से उस पर ध्यान का अभ्यास आरम्भ कीजिए, ऐसा होने पर नेत्र बन्द करके अभ्यास करना भी सरल हो जायगा। बाह्य ध्यान ही आंतरिक ध्यान का रूप लेने लगेगा। त्राटक भी बाह्य ध्यान की ही एक क्रिया है, जो अभ्यास सिद्ध होने पर साधक को अभूत पूर्व शक्ति से सम्पन्न कर देती है। त्राटक के स्वरूप का परिचय देते हुए योग ग्रन्थों में लिखा है—

निमेषोन्मेकं त्यक्त्वा सूक्ष्म लक्ष्यं निरीक्षयेत् ।
यावदश्रूणि पतन्ति त्राटकं प्रोच्यते बुधैः ।।

अर्थात्—निमेष-उन्मेष को रोकने पर जब तक आँखों से आँसू न गिरने लगें, तब तक किसी लक्ष्य की ओर टकटकी लगाकर देखते रहने को विद्वज्जन त्राटक कहते हैं ।

वस्तुतः इष्ट वस्तु को टकटकी लगाकर देखने की यह क्रिया आरम्भ में कुछ असुविधाप्रद प्रतीत हो सकती है, किंतु जब साधक इसके अभ्यास में आगे बढ़ता जाता है, तब उसे किसी प्रकार की असुविधा प्रतीत नहीं होती और साधक उसमें शीघ्र ही सफलता प्राप्त कर लेता है ।

योग-साधनों में त्राटक कर्म अत्यन्त महत्वपूर्ण और उच्च कोटि का माना जाता है । इसके द्वारा योगी पुरुष बड़े-बड़े कार्य सिद्ध कर लेते हैं। देखने में अत्यन्त सरल होते हुए भी आश्चर्यप्रद फल से युक्त है । योगियों का कहना है कि त्राटक सिद्ध योगी अपनी किसी भी इच्छा को बिना किसी बाधा के पूर्ण करने में समर्थ होता है ।

त्राटक-सिद्ध योगी जिसकी ओर दृष्टि उठाकर देख ले, वही वश में हो सकता है । उसकी दृष्टि बड़े-बड़े पत्थरों में दरार डाल सकती है । यहाँ तक कि किसी को भस्म करना चाहे तो अपनी दृष्टि के द्वारा वैसा कर सकता है । शिवजी द्वारा काम-दहन की जो घटना पुराणों में वर्णित है, उसमें मूल शक्ति त्राटक की ही है ।

त्राटक मन को वश में करने की भी एक क्रिया है । मन को नियन्त्रण में त्राटक एक सफल प्रक्रिया है । जब इसमें सिद्धि प्राप्त हो जाती है तब दूसरों को वश में करना भी सरल हो जाता है । जब त्राटक सिद्ध योगी किसी को अपने अनुकूल बनाता है, तब वह उसके मन को ही प्रभावित करता है । वह चाहे तो उसकी स्मरण-शक्ति को ही गड़बड़ा दे और भुला दे कि वह स्वयं क्या है ? त्राटक सिद्ध के प्रभाव से उसकी सभी इन्द्रियाँ विषय-विरत हो सकती हैं । सामने व्यक्त दृश्य भी दिखाई

नहीं देता, कोई कितना ही चिल्लाए सुनाई नहीं देता और लाख प्रयत्न करने पर भी उसकी यह दशा हो सकती है कि मुख से बोल भी न निकले।

अभिप्राय यह है कि त्राटक-सिद्ध योगी के प्रभाव में वह मनुष्य इतना आ सकता है कि किसी दृश्य को देखता हुआ भी न देखे, किसी बात को सुनता हुआ भी न सुने और कुछ कहना चाहता हुआ भी न कह पाए। जागते हुए भी सोते हुए जैसी अवस्था हो जाती है और वह मनुष्य परवश हो जाता है। इसे सम्मोहित अवस्था कहते हैं।

त्राटक एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है

योग की इसी महान् शक्ति का प्रयोग आधुनिक काल में मैस्मरेज्म और हिप्नोटिज्म आदि के रूपों में होता है। इन विद्याओं को लोग जादू समझते हैं, किंतु जादू नाम की कोई वस्तु हो सकती है तो वह त्राटक योग से ही हो सकती है। योग की अणिमादि सिद्धियाँ बहुत ऊँची वस्तु हैं, उन्हें जादू की संज्ञा नहीं दी जाती। उन सिद्धियों के द्वारा साधक असम्भव को भी सम्भव बना सकता है। उनकी चर्चा यहाँ अप्रासाङ्गिक होगी।

आधुनिक सम्मोहक (हिप्नोटिस्ट) भी अनेक करिश्मे दिखाते हैं। लगता है कि वे वस्तुतः सिद्ध पुरुष हैं। किंतु उनमें से अधिक करिश्मे तो हाथ की सफाई से ही सम्बन्धित होते हैं, जिन्हें इस प्रकार की सफाई में अभ्यस्त मनुष्य सरलता से प्रदर्शित कर सकते हैं।

हाथ की सफ़ाई से ऊपर है सम्मोहन क्रिया। वह जब किसी से कुछ कार्य लेना चाहता है, तब उसे सम्मोहित करता है। उस समय सम्मोहित व्यक्ति उसके प्रभाव में इतना आ जाता है कि सम्मोहक की इच्छानुसार ही चले, वह जो कुछ कहलाना चाहे वही कहे, चाहे वह पूर्ण रूप से मिथ्या ही क्यों न हो।

किस प्रकार होता है यह सब ? सम्मोहक की शक्ति पर लोग आश्चर्य करने लगते हैं। किन्तु वे नहीं जानते कि ऐसे लोग त्राटक योग के अभ्यास से अपने आत्म बल को इतना बढ़ा लेते हैं कि सम्मोहित व्यक्ति उनके प्रभाव क्षेत्र से बाहर नहीं निकल पाता।

वस्तुतः यह एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है। समूचा योग शास्त्र ही वैज्ञानिक प्रक्रियाओं पर आधारित है। सम्मोहक के विचारों की तरङ्गें मस्तिष्क से निकल-निकल कर पात्र के मस्तिष्क को अपना लक्ष्य बना लेती हैं। किंतु ऐसा तभी हो सकता है जब सम्मोहन के लिए प्रयोग में लाए जाने वाले व्यक्ति का आत्मबल घटा हुआ हो। सम्मोहक के समान या उससे अधिक प्रवृद्ध आत्मबल वाले मनुष्य का उसके द्वारा सम्मोहित किया जाना किसी प्रकार सम्भव नहीं है।

इस प्रकार के अनुभव किए जा चुके हैं कि अधिक आत्मबल या तीव्र स्मरण शक्ति वाले व्यक्तियों को सम्मोहित नहीं किया जा सकता। परन्तु यदि सम्मोहक त्राटक–साधना के द्वारा अपनी मस्तिष्क शक्ति को बहुत बढ़ा चुका होता है तो उसे प्रायः सभी व्यक्तियों को सम्मोहित करने में सफलता मिल जाती है।

भारतीय योग-साधकों में भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल की यथार्थ बात बताने वाले अनेक व्यक्ति हुए हैं। यह साधक ज्योतिष के बल पर नहीं, अपने आत्मबल पर ही निर्भर रहते हुए सब कुछ बता देने में समर्थ थे। कहते हैं कि आज भी ऐसे अनेक व्यक्ति विद्यमान है जो तीनों काल की बात उस प्रकार बता देते हैं, जैसे सामने कोई दृश्य देख कर ही उसका वर्णन कर रहे हों।

कैसे प्राप्त हैं उन्हें वह अद्भुत शक्ति ? आत्मबल के प्रताप से ही। आत्म बल के सामने अन्य कोई बल नहीं टिकता, सभी प्रकार के बल घुटने टेक देते हैं। सम्भव है जानते हों आप कि जिसे तलवार के बल

पर नहीं झुकाया जा सकता, उसे आत्म बल के द्वारा सहज में ही झुका सकते हैं।

त्राटक और आत्मबल-वृद्धि

चित्त की एकाग्रता से आत्मबल की वृद्धि होती है। यदि चित्त एकाग्र नहीं तो आप कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकते, चञ्चल चित्त अभी यहाँ है तो अभी विदेश में, अभी शहर में घूम रहा है तो अभी पहाड़ों की सैर कर रहा है, अभी स्नान कर रहा है तो अभी धूप सेवन में लगा है, किन्तु रुकता कहीं नहीं, जहाँ जाता है, वहीं से भाग खड़ा होता है। यदि ऐसा न हो तो उसके द्वारा बड़े-बड़े कार्य सिद्ध किए जा सकते हैं। त्राटक के अभ्यास से इसमें सहज सफलता मिल सकती है

शरीर में दस इन्द्रियाँ हैं, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ। विषयों की प्राप्ति में कर्मेन्द्रियाँ ही महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करती हैं। वे ही मन को अपने-अपने विषयों की ओर घसीट कर ले जाती हैं। आप मन को रोकने लगें तो वह किसी साधारण प्रक्रिया से रुकेगा नहीं। वरन् कभी कभी तो आप उसे जितना रोकने का प्रयत्न करते हैं, उतना ही वह निकल भागना चाहता है। आपको पता भी नहीं चलता कि कब चला गया वह, आप विवश हुए देखते रह जाते हैं और वह चला जाता है।

जब तक आप सँभलते हैं तब तक मन फ्रांस में होता है, इङ्गलैण्ड या अमेरिका में होता है, जिन स्थानों को आपने कभी देखा नहीं, मन वहाँ भी पहुँचे बिना नहीं रहता। यह आवश्यक नहीं कि वह वहाँ पहुँच ही गया हो। आपने कभी किसी नगर, महल आदि की उसके नाम विशेष के सहित कल्पना की हो तो मन ही ऐसा माध्यम है, जब उस कल्पना को साकार करने में समर्थ हो सकता है।

मान लीजिए कि आप किसी सुन्दर रमणी को देखते हैं, आपका मन उसकी रूप-राशि का पान करता है, आपकी आँखें लालायित दृष्टि

से देखती हैं, उसे आप चाहते हैं कि उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग का अनावरित रूप से निरीक्षण करें, किंतु उस रमणी के वस्त्र आपकी उस इच्छा में बाधक होते हैं। आप देख नहीं सकते उन्हें।

फिर भी स्त्री-अङ्गों के विषय में आपकी पूर्व जानकारी उस रमणी के अङ्गों को अनावरित करने में सहायक होती है। आप जानते हैं कि उस रमणी का कौन-सा अङ्ग किस प्रकार का हो सकता है। आप अनुमान करते रह जाते हैं, जबकि आपका मन दौड़ चुका होगा।। उसने उस रमणी के अङ्गों का निरीक्षण कर लिया होगा आपके अनुमान के अनुसार। इस प्रकार जो कार्य आप नहीं कर सके, वह आपके मन ने कर दिखाया। आप सोचते रह जाते हैं, मन दौड़ जाता है। उसकी छलांग इतनी लम्बी होती है कि प्रायः अबाध बन जाती है अपने लक्ष्य पर पहुँचने में। वस्तुतः यह एक अप्रत्याशित घटना होती है, जिसके कर्ता आप नहीं, आपका मन ही होता है।

जो न करता तन, वह कर देता मन

जो कार्य शरीर नहीं कर सकता, उसे मन करने में समर्थ है। यह तो आप जानते ही होंगे कि शरीर अपने आप में निष्क्रिय है, उसके पास अपनी क्रियाशीलता नहीं, अपनी गति नहीं, उसकी क्रियाओं का सञ्चालक मन है और मन का सञ्चालन होता है आत्मा के सहकारी प्राण के द्वारा। प्राण ही शरीर को गतिवान् बनाता है, उसकी जितनी भी क्रियाएँ, प्राण के द्वारा ही होती हैं।

शरीर में सात धातुएँ होने की बात चिकित्सा-शास्त्रीयों ने कही है। यदि वे धातुएँ न हों तो शरीर का टिकना ही असम्भव है। हम जो कुछ खाते-पीते हैं, उसका रस बनता है और वहीं रस रक्त के रूप में बदल जाता है। शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं, रक्त इन सभी में भ्रमण करता हुआ उन्हें शक्ति प्रदान करता है। इसी प्रकार मांस, मेद, मज्जा,

अस्थि, शुक्र आदि के भी अपने-अपने कार्य हैं। शरीर का समूचा ढाँचा इन्हीं सात धातुओं से खड़ा हुआ है। प्राण इस ढाँचे को क्रियाशील बनाए रखता है।

ज्ञानियों ने शरीर को रथ के समान मानते हुए मन को उसके सारथी की तुलना की है। इन्द्रियों को घोड़ों के समान मानकर यह स्पष्ट किया है कि घोड़ों को तो दिशा ज्ञान नहीं होता, उन्हें सारथी ही इच्छानुकूल दिशा में ले जा सकता है। मन चाहे तो इन्द्रिय रूपी घोड़ों को विषयों की ओर से पीछे मोड़ ले। किन्तु ऐसी सम्भावना उसी प्रकार के मन से की जा सकती है, जो स्थिर हो, जिसकी चञ्चलता मिट चुकी हो। चञ्चल मन इन्द्रियों को कभी वश में नहीं कर सकता, वरन् उनके प्रभाव में घिसटता चला जाता है विषयों की ओर।

बहुत बार देखते हैं कि घोड़े दुष्ट हों तो किसी नौसिखिए कोचवान के काबू में नहीं आते। वे कभी पीछे की ओर लात मारकर चालक को आहत कर देना चाहते हैं तो कभी तेजी से दौड़ पड़ते, बिना संकेत की परवाह किए हुए। चालक के चाहने पर भी इच्छित दिशा में नहीं चल पाते और कभी-कभी तो गाड़ी सहित जा गिरते हैं खाई-खड्ड में, इससे बेचारा चालक भी सङ्कट में पड़ जाता है।

किंतु चालक अनुभवी हो, उसने घोड़ों को पहिले से सुशिक्षित कर लिया हो तो प्रतिकूलता की कभी नौबत नहीं आती। अनुभवी चालक बिगड़े हुए घोड़ों को भी प्रयत्नपूर्वक अपने अनुकूल चलाने में समर्थ होता है।

यही स्थिति मन की है। वह स्थिर हो जाय, बाह्य बल की अपेक्षा प्राणबल से सम्पन्न रहे तो कितनी भी उच्छृङ्खल इन्द्रियाँ हों, वह उन्हें सहज में ही वश में कर सकता है। इस ससार में देहाश्रित आत्मा देह-बन्धन से तभी छुटकारा पा सकता है जब मनुष्य अपने प्राण को सबल बनाए और मन को स्थिर करे। यदि मन स्थिर हो चुका है तो वह

शरीर की क्रिया को अधिक हितकर बना सकता है। उसके द्वारा ताप मान को इच्छित बनाया जाना सम्भव है। नाड़ी की असम गति को भी सम बना सकते हैं तथा सभी अङ्गों को स्फूर्तिमय और अपेक्षा के अनुसार गतिवान रखा जा सकता है।

चित्त की एकाग्रता श्रवणशक्ति को प्रखर बनाने में समर्थ होती है। वाक्-शक्ति में वृद्धि का भी यह एक सरल उपाय है। शास्त्रकारों ने जिसे दिव्य-दृष्टि कहा है, वह भी मन की स्थिरता के द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है।

यदि हमें कुछ प्राप्त करना है तो अपने को संयत बनाना चाहिए। संसार में इच्छा की विविधता देखी जाती है, जिस का कारण है भोग्य पदार्थों की विविधता। सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने भोगों में लिप्त रहना चाहती हैं, जो कि उचित भी है। प्रकृति ने उनकी रचना ही इसलिए की है कि वे अपने-अपने भोगों को प्राप्त कर सकें।

परन्तु सभी इन्द्रियों के भोग शुभ भी हो सकते हैं, अशुभ भी। उन्हीं के अनुसार इच्छाएँ भी अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की हो सकती हैं। आप अच्छी इच्छाओं से युक्त रहें तो इन्द्रियों के भोगों में कोई बुराई नही है। बुराई है बुरे भोगों मे। आप पूछ सकते हैं कि जब प्रकृति ने ही भोगों की रचना की है तब इच्छाओं में अच्छी-बुरी का भेद कैसे माना जा सकता है?

इस भेद के विषय में भी समझ लीजिए—मान लीजिए कि आपने किसी सुन्दर स्त्री से विवाह किया है, उसके साथ कामेच्छा की पूर्ति के लिए भी आप स्वतन्त्र हैं। आपको धार्मिक रूप से यह अधिकार प्राप्त है कि पत्नी का काम-संसर्गमय उपभोग कर सकें। यहाँ तक की सब बात शुभ, धर्मयुक्त एवं समाज-सम्मत है।

किन्तु विवाह के पश्चात् भी कामोपभोग में संयम की बात कही जाती है। ऋषियों का कहना था कि स्त्री-समागम सन्तानोत्पत्ति के

लिए ही उचित है और प्राचीन काल में प्रायः इसी नियम का पालन किया जाता रहा है। बाद में मनुष्य की प्रवृत्ति में परिवर्तन हुआ देखकर यह मान्यता स्थिर हुई कि स्त्री-समागम में संयम बरता जाय। वर्ष में एक बार, छः मास में एक बार और न रहा जाय तो तीन मास में एक बार समागम करना अधिक हानिकारक नहीं है। बाद की व्यवस्था में वह अवधि तीन मास से घटकर एक मास रह गई। किंतु वह भी तब जबकि पत्नी ऋतुमति न हो, उसके रजस्राव के दिनों में संसर्ग पूर्ण रूप से वर्जित है।

उक्त नियमों का पालन करते हुए जो लोग कामेच्छा पूरी करते हैं, उनकी इच्छा शुभ मानी जायगी, किंतु जो लोग हर समय कामुक विचार रखते हैं, दिन-रात वासना की पूर्ति में लगे रहते हैं, उनकी कामेच्छा अशुभ ही है। विशेष रूप से यदि कोई पुरुष किसी पर स्त्री से या कोई स्त्री पर पुरुष से काम संसर्ग करना चाहे तो वह इच्छा अत्यन्त बुरी मानी जायगी।

इसी प्रकार शुभ दृश्य देखना, शुभ बात सुनना, शुभ बात कहना अच्छी इच्छा है, जबकि अशुभ दृश्य देखना, अशुभ बात सुनना, अशुभ बात कहना, अशुभ स्पर्श करना आदि कार्य बुरी इच्छाओं के अन्तर्गत आते हैं। निश्चय ही बुरी इच्छाएँ मन को चञ्चल बनाए रखतीं हैं, वह उसे कभी स्थिर नहीं होने देतीं। इसीलिए विद्वानों का मत है कि मन को बुरी इच्छाओं से हटाने का प्रयत्न करना चाहिए।

बुरी इच्छाएँ रजोगुण और तमोगुण से युक्त होती हैं। मन जब इनकी पूर्ति के लिए लालायित रहता है तब उचित, अनुचित कुछ भी नहीं देखता। क्योंकि उस समय उसमें लिप्सा की अधिकता हो, वह मन निश्चय ही मनुष्य के अधःपतन का प्रमुख कारण होता है।

स्वार्थ में अशांति

जहाँ स्वार्थ होगा, वहाँ अशांति भी रहेगी। क्योंकि यह आवश्यक

नहीं कि सब स्वार्थों की पूर्ति हो ही जाय, और अपूर्ण स्वार्थ सदा ही मन को कचोटते रहेंगे। आप स्वयं सोचिए कि कोई बार-बार कचोटने लगे आपको तो आपकी क्या स्थिति होगी ?

आपकी इन्द्रियाँ जब विषयों की ओर उन्मुख होती हैं, तब मन को भी घसीटती हैं अपने साथ। अब यह मन पर ही निर्भर है कि वह क्या करता है ? यदि उसमें शक्ति होगी तो इन्द्रियों को ही घसीट लेगा अपनी ओर, और उन्हें बना देगा बहिर्मुखी। किंतु यह कार्य निर्बल मन नहीं कर सकता। उसकी स्थिति तो उसी हारे हुए जुआरी के समान होती है जो अपने को बेबसी की अवस्था में स्वयं ही डाल चुका होता है।

आप अपने मन को वश में न कर सकें, ऐसी बात नहीं है। मनुष्य चाहे सो कर सकता है, उसके लिए असम्भव कुछ भी नहीं है। किंतु कुछ भी करने के लिए उसकी पृष्ठभूमि चाहिए। यदि पृष्ठभूमि नहीं तो योजना ही खटाई में। पृष्ठभूमि के बिना कोई भी कार्य बन नहीं पाता।

संसार की तीन महती शक्तियाँ

संसार में तीन शक्तियाँ महत्वपूर्ण हैं। महत्वपूर्ण क्या, संसार के सभी कार्य उन शक्तियों के द्वारा ही हुए हैं। यह समूचा दृश्य प्रपञ्च उन्हीं शक्तियों के द्वारा रचित और अस्तित्व में लाया गया है। उनके बिना कहीं कुछ नहीं हो सकता।

वे शक्तियाँ हैं—इच्छा, क्रिया और ज्ञान। वस्तुतः यह तीनों ही मिलकर काम करती हैं। तीनों का ही परस्पर में अटूट सम्बन्ध है। प्रत्येक प्राणी इन शक्तियों के अंशदान से ही जीवन पाता, स्थित रहता और अन्त में इन्हीं में लीन हो जाता है।

इनकी अभिन्नता किस प्रकार है, यह भी समझ लेना अपेक्षित होगा। किसी वस्तु विशेष का ज्ञान हुए बिना किसी कार्य की सिद्धि नहीं हो सकती। मान लीजिए कि पानी पीना है, उसके लिए कोई साधन

चाहिए। जब तक पात्र का निर्माण नहीं हुआ था, तब तक लोग हाथ की अंजुलि से पानी पीते थे। बाद में तो गिलास, लोटा, कलश, बाल्टी आदि बहुत सी वस्तुएँ बन गई।

प्रश्न यह है कि कैसे बनी वे वस्तुएँ ? मनुष्य ने अनुभव किया कि कोई ऐसी वस्तु होनी चाहिए, जिससे नदी से पानी लेकर रखा जा सके और पीने में भी सुविधा हो सके। तब उस प्रकार की इच्छा ने आवश्यकता समझी वैसी वस्तु की। उस आवश्यकता ने ही ज्ञान कराया कि लोटा, बाल्टी, गिलास आदि के द्वारा पानी पीने का कार्य सरलता पूर्वक हो सकता है। यहाँ तक की बातों में इच्छा शक्ति और ज्ञान शक्ति का योगदान रहा। अब प्रश्न उठा कि लोटा, बाल्टी, गिलास आदि आए कहाँ से ?

उसका समाधान किया क्रिया शक्ति ने, वह जाग्रत् हो गई। उसने हाथों के सहयोग से पात्र का निर्माण आरम्भ कर दिया। जब लोटा, कलश आदि का रूप में पात्र बनकर सामने आ गया तो स्पष्ट हो गया कि यह कार्य क्रिया शक्ति का है। यदि क्रिया शक्ति न होती तो लाख इच्छा शक्ति जोर मारती, लाख ज्ञान शक्ति वर्तनों के चार्ट बनाकर सामने रख देती, तो भी क्या मजाल थी कि पात्र बनकर सामने आ पाता।

भोजन की इच्छा में, यह इच्छा शक्ति का कार्य था कि भूख लगाए। रसोइए की प्रबल क्रियाशक्ति ने जो रसोई बनाई उसके हितकर और स्वादिष्ट सामानों को देखकर इच्छा शक्ति ने खाने की प्रेरणा दी, ज्ञानशक्ति ने भी कहा खाओ, यह पदार्थ अवश्य ही स्वादिष्ट होंगे किन्तु खाओगे कैसे ? क्या क्रिया शक्ति की सहायता के बिना भोजन कर सकोगे ?

नहीं कर सकोगे तब तक, नहीं कर सकोगे भोजन, जब तक परोसी हुई थाली या पत्तल से अन्न के कौर को हाथ से उठाकर मुख में नहीं

रख लोगे। अब शायद समझ में आगई होगी क्रियाशक्ति की करामात ! बिना क्रियाशक्ति के अन्य दोनों शक्तियाँ व्यर्थ हो गई इसी प्रकार इच्छा शक्ति के बिना क्रियाशक्ति निष्फल है। भूख नहीं है तो भोजन कैसे किया जायगा ? यही हाल ज्ञान शक्ति का है, ज्ञान का उपयोग उस समय तक किसी काम का नहीं, जब तक उसे क्रियात्मक रूप न दिया जा सके।

यदि इन तीनों शक्तियों को साधारण स्थिति से ऊपर उठकर प्रयोग में लाने का निश्चय करें तब तो क्या ही कहने ? शक्तियों की यह त्रिपूटी अभूतपूर्व फल देने वाली सिद्ध हो सकती है। किंतु आवश्यकता है इनके सदुपयोग की। संसार में जितने भी बड़े छोटे आविष्कार हुए हैं, सभी में इन्हीं शक्तियों का योगदान रहा है। ज्ञान के दो अङ्ग है—ज्ञान और विज्ञान। ज्ञान में सात्विकता है, जबकि विज्ञान में रजोगुण और तमोगुण का समावेश है। ज्ञान का उपयोग आध्यात्मिक पक्ष में अधिक उपयुक्त होता है जबकि विज्ञान बहुत कुछ भौतिक उपलब्धियों का कारण रहता है। आधुनिक काल की आश्चर्यजनक भौतिक उपलब्धियों का श्रेय विज्ञान को ही है।

हमारा मन भी शक्तियों की त्रिपुटी से युक्त है, उसमें इच्छा, क्रिया और विज्ञानमयी ज्ञानशक्ति भी विद्यमान रहती है। किंतु साधारण अवस्था में यह शक्तियाँ मन के किसी कोने में सोई पड़ी रहती हैं। आपने अनुभव किया होगा कि न जाने कितने विचार उठते हैं आपके मन में शायद आप अनेक नई योजनाएँ भी बना लेते होंगे, किंतु उन्हें क्रियात्मक रूप नही दे पाते। क्यों नहीं दे पाते ? इसका उत्तर स्पष्ट है कि ज्ञान शक्ति और क्रियाशक्ति दोनों की कमी अथवा एक की कमी तो होगी ही।

—*—*—

त्राटक से शक्ति जागरण

यदि आप अपने मन में विद्यमान इन शक्तियों को जगाने में सफल हो जाँय तो क्या नहीं कर सकते ? पुराणों और इतिहासों में हमने ऋषि प्रदत्त शापों और वरदानों की बातें पढ़ी सुनी होंगी। अनेक व्यक्ति इन पर विश्वास नहीं करते। किन्तु विश्वास कीजिए कि उनमें कुछ न कुछ तथ्य अवश्य है। यदि विश्वास नहीं है तो अभ्यास करके देखिये उसमें निहित शक्ति को।

संसार में अभी भी ऐसे सन्त महात्मा विद्यमान हैं जिनमें वरदान अवश्य सफलीभूत होते हैं। कुछ तो ऐसे भी हैं जो रोगी के सिर पर हाथ का स्पर्श करा दें तो उसका रोग ठीक हो जाय। बहुधा त्राटक सिद्ध योगी इस प्रकार की शक्ति से सम्पन्न रहते हैं।

यह स्थिति भी प्रत्यक्ष देखी जाती हैं कि किसी का दिल दुखाने पर उसके दिल से निकली हुई आह दिल दुखाने वाले का अनिष्ट कर देती है। इसीलिए बहुत-से विद्वान् दूसरों का दिल न दुखाने का परामर्श देते रहते हैं।

भारतवर्ष में यह प्रथा प्राचीन काल से चली आ रही है कि छोटी आयु के मनुष्य अपने गुरुजनों का आशीर्वाद प्राप्त करें। इस प्रथा का परिपालन प्रायः विशेष धार्मिक कृत्यों, उत्सवों, संस्कारों, यज्ञादि कर्मों में मुख्य रूप से किया जाता है। इसमें उद्देश्य बड़ों की प्रसन्नता प्राप्ति के द्वारा अपने भविष्य को उज्वल बनाना ही रहता है।

योगाभ्यासी मनुष्य अपनी साधना में सबसे पहिले मनको पवित्र बनाने का प्रयत्न करते हैं। अष्टांग योग में योग-साधना का आरम्भ यम नियमों के पालन से कराया जाता है। यम-नियमों में निहित सत्य,

अहिंसा, दया आदि का अभ्यास मन को पवित्र और सात्विक बनाने का ही अभ्यास है। इसमें सफलता प्राप्त किए बिना योग साधना का आरंभ ही नहीं हो सकता।

इस अभ्यास के सफल होने पर आसन का अभ्यास अपेक्षित होता है। आसन का तात्पर्य उस स्थिति में बैठने से है, जो अभ्यास का समय पूर्ण होने तक किसी प्रकार की थकान या ऊब उत्पन्न न होने दे। इससे स्पष्ट है कि आसन साधना भी मन को व्यस्थित बनाने की ही साधना है।

योगाभ्यास में प्राणायाम को एक आवश्यक क्रिया समझा गया है। प्राणायाम-रहित योग प्रायः योग की कोटि में आता ही नहीं। प्राणायाम के द्वारा प्राण की गति संयमित करने का अभ्यास किया जाता है। यह क्रिया भी मन की अस्थिरता दूर करने में बहुत सहायक होती है।

और अष्टांग योग का पाँचवाँ अङ्ग प्रत्याहार तो है ही मन सम्बन्धी अभ्यास। मन इधर-उधर भागता है तो प्रत्याहार उसे रोकने का प्रयत्न करता हैं। प्रत्याहारी योगी का मन उच्छृङ्खलता से दूर रहता है। यदि प्रत्याहार का आश्रय लिया जाय तों इच्छा शक्ति भी प्रबल हो जाती है। क्योंकि प्रत्याहार से इन्द्रिय, मन और इच्छाओं के नियन्त्रण की स्थिति स्वतः उत्पन्न होती रहती है।

परन्तु, मन के साथ बल प्रयोग नहीं करना चाहिए। बल-प्रयोग से कभी कोई वश में नहीं होता। कुछ लोग अवैज्ञानिक ढङ्ग से मन को वश में लाने का प्रयत्न करते हैं, जिसमें उन्हें सफलता नहीं मिलती और वे समझ बैठते हैं कि मन पर काबू पाया जाना असम्भव है।

प्रत्याहार की क्रिया मन को वश में करने की तो है, किंतु है वैज्ञानिक। उसके द्वारा एकाग्र हुआ मन चञ्चलता रहित हो सकता हैं। इसीलिए योगाचार्यों ने इसके अभ्यास को भी बहुत आवश्यक समझा है। जब प्रत्याहार के अभ्यास में सफलता मिल जाती है, तब धारणा का

अभ्यास किया जाता है, जिसमें मन को किसी वस्तु विशेष में टिकाने का अभ्यास निहित है। यदि इसमें सफलता मिल जाती है तो समझ लो कि समस्त योग-साधना में ही सफलता मिल गई।

योग के यह छः अङ्ग हुए। यह सभी साधक की मनोभूमि को सात्विकी आवरण में आवरित करने में सहायक होते हैं। जब तक मनोभूमि में राजसिक और तामसिक तत्वों की विद्यमानता रहती हैं, तब तक सातवें योगांग—ध्यान की स्थिति में प्रविष्ट होना सम्भव नहीं होता।

ध्यान का अर्थ है मन को किसी एक ही लक्ष्य में तन्मय करने का प्रयत्न। इसी के द्वारा साधक अपने मन को अधिक से अधिक स्थिर करने की शक्ति प्राप्त करता है। यह क्रिया आधुनिक काल में भी अत्यंत महत्वपूर्ण समझी जाती है। भारतीय ही नहीं, विदेशी साधक भी ध्यानाभ्यास में सफलता को योग की परम उपलब्धि मानते हैं।

ध्यान में चित्त वृत्तियां विषय विशेष में रम जाती है। यद्यपि साधक अपने को भूलता नहीं, उसे अनुभव रहता है अपनी स्थिति का, वह जानता है कि मैं ध्यान का अभ्यास कर रहा हूँ।

ध्यान के अनेक प्रकार हैं और साधक अपने-अपने अभ्यासानुसार उनके प्रयोग के लिए स्वतन्त्र हैं। पहिले ही कहा जा चुका है कि त्राटक भी ध्यान का ही एक प्रकार हैं। हम उसके अभ्यास से वह सब प्राप्त कर सकते हैं जो किसी भी योगी को समाधि-अवस्था में प्राप्त हो जाता है।

योग की अन्तिम अवस्था समाधि है। ध्यान का अभ्यास सिद्ध होने पर समाधि की अवस्था उत्पन्न हो सकती है। वस्तुतः समाधि ध्यान का ही अन्तिम रूप है। ध्यान का सुपरिणाम समाधि ही है, जिसमें समस्त सिद्धियाँ जाग्रत् रहती हैं। योगी समाधिस्थ रहता है और सिद्धियाँ

चैतन्य। यदि समाधि का अभ्यास हो जाय तो फिर किसी भी प्रकार के अभ्यास की आवश्यकता नहीं रहती।

त्राटक योग में समस्त सिद्धियाँ निहित हैं. उसके द्वारा किसी भी शक्ति का, किसी भी ऊर्जा का जागरण सहज सम्भव है। आप अपने शरीर में विद्यमान किसी भी शक्ति का, किसी भी ऊर्जा रूपांतरण को त्राटक-साधना के द्वारा करते है समर्थ हो सकते हैं। किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि आप त्राटक की साधना में अधिक से अधिक सिद्धि की प्राप्ति के लिए अभ्यास करते रहें जो कि सरल और निश्चित रूप से सफलताप्रद हो सकता है।

धर्म, जीवन और कामशक्ति

धर्म क्या है ?

धर्म के विषय में अनेक मान्यताएँ हैं। कोई अपने सम्प्रदाय को धर्म मानता है, कोई कर्त्तव्य को, कोई योग, भक्ति, उपासना, जप तप आदि को धर्म कहता है तो किसी के मत में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम ही धर्म है।

गुरु का धर्म शिष्य बनाना है, व्यापारी का धर्म क्रय-विक्रय द्वारा धनोपार्जन, व्याख्यानदाता का धर्म व्याख्यान देना, क्षत्रिय का धर्म युद्ध करना, शूद्र का धर्म सेवा करना है। चोर चोरी करने को धर्म मानता है और जल्लाद हत्या करने को। अभिप्राय यह कि सभी ने धर्म

को अपनी-अपनी ओर मोड़ा है। क्योंकि धर्म के समान लचीली (फ्लैक्सीबिल) प्रक्रिया संसार में कोई अन्य शायद नहीं है।

ईसीलिए विद्वानों ने धर्म की गति अत्यन्त गहन बताई है। इतनी अधिक गहन कि कोई कितना ही गहरा गोता क्यों न लगाये, था नहीं पा सकता उसकी सागर में कुछ पाने के लिए गहरा बैठना होता है, किन्तु संसार सागर में कोई कितना ही गहरा बैठे, धर्म को नहीं पा सकता।

जब असली वस्तु नहीं मिलती तब नकली पर ही सन्तोष करना होता है। धर्म के अनुयायी भी क्या करें ? असली धर्म तो उपलब्ध नहीं, अब नकली से भी काम न चलाएँ तो संसार में टिकें कैसे ?

जब किसी देश में स्थिर शासन नहीं होता तब काम चलाऊ सरकार से काम चलाना होता है। रहने के लिए पक्का मकान न हो तो फिर घास फूस की झोंपड़ी ही सही। यदि उसका भी प्रबन्ध न हो सके तो वर्षा और धूप से बचने के लिए वितान का, किसी मोटे वस्त्र के तान लेने का ही उपाय करना होता है।

वर्तमान काल में धर्म की भी वही स्थिति है। वह असली नहीं है वरन् नकली है, काम चलाऊ है। कहीं छिपने के लिए कोई ओट चाहिए, क्यों कि ओट के बिना छिपा नहीं जा सकता। किसी हिंसक पशु या शत्रु से बचने के लिए भी ओट आवश्यक होती है। आज हम विवश हैं धर्म की ओट लेने के लिये। यदि हम उसकी ओट न लें तो अपने व्यक्तित्व की, अपने मान-सम्मान की, अपने दुराग्रह की रक्षा करने में समर्थ नहीं हो सकते।

और यह कोई नई बात नहीं है। मनुष्य लाखों वर्षों से यही करता चला आ रहा है। उसने हिंसाएँ की हैं धर्म की आड़ में, धन और स्त्रियों का अपहरण किया है धर्म की आड़ में और धर्म की ही आड़

में उसने अपने भ्रान्त विचारों को भी दूसरों के ऊपर थोपने का प्रयत्न किया है।

धर्म की दुहाई देने वाले लोग भी धर्म के विषय में कुछ नहीं जानते, तो भी पागल हो रहे हैं उस पर जरा-सा खटका हुआ कि खतरे का घण्टा बजा दिया और चिल्ला उठे जोर से कि 'सावधान हो जाओ, धर्म खतरे में है।'

किन्तु धर्म खतरे में कभी नही रहा, उसने मनुष्य को ही सदैव खतरे में डाला है। वह मनुष्य को खतरे में पड़ा देखकर ही हँसता रहा है आज तक। उसकी हँसी कभी रुकी ही नहीं और लगता है कि भविष्य में कभी नहीं रुकेगी।

हम इतना तो समझ गये हैं कि जिसे हम धर्म कहते हैं, वह कहीं छिपा बैठा है। हमें डर हुआ कि यदि धर्म छिपा रहेगा तो कहीं हमें ही न छिपा ले, इसलिए हमने उसे उजागर करने का एक उपाय सोचा- धर्म की कल्पना करो और उसी के अनुसार उसके रूप का प्रचार करो।

यह उपाय धर्म को प्रकाश में लाने का था। असली धर्म को नहीं, धर्म के प्रतिनिधि स्वरूप उसके प्रतीक को और फिर तभी से हम उस प्रतीक की ही पूजा करते आ रहे हैं। किन्तु यह बात नहीं कि हम समझते न हों उसके विषय में कि वह धर्म, जिसकी पूजा की जा रही है, असली नहीं नकली है।

धर्म के दो स्वरूप

आज मनुष्य भ्रान्तियों का शिकार क्यों हो रहा है? उसी नकली धर्म की पूजा करने के कारण। वह समझता है कि मैं जो कुछ करता हूँ वह अधार्मिक नहीं है, चाहे उसमें जीवन का विरोध ही क्यों न निहित हो।

परन्तु तथ्य यहीं है कि उस धर्म ने हमें जीवन का विरोध करने के लिए ही उकसावा दिया है। वह कहता रहा है कि 'यह जीवन भी कोई जीवन है ? क्षणिक है, इसे मिट जाना है, मत करो इससे मोह।' इस प्रकार का दृष्टिकोण तो बनता है, किन्तु कितने हैं जो जीवन से मोह छोड़ चुके हों ?

मरना कोई नहीं चाहता, यह जानते हुए भी कि हमें मरना अवश्य है। किन्तु मृत्युवादी धर्म ने हमको शंकित अवश्य कर दिया है। हम जीवन जीते हैं किन्तु एक टीस के साथ, एक निरास के साथ। धर्म ने हमें मृत्मु की व्याख्या देकर आँतकित कर दिया है। उसके फल स्वरुप हम सोचते हैं कि यहाँ से जाना तों है ही हमें।

तब हम जो कुछ करते हैं, वह आशाहीन होकर। हमारे कर्म में निराशा होती हैं, किन्तु तब भी हम निष्काम रूप से किसी कर्म को नहीं करते। हमारे कार्यों में निस्पृहता नही होती, वरन् निराशा के साथ उत्साहीनता होती है।

यदि धर्म जीवनवादी होता तो जीवनधारा ही बदली हुई होती मनुष्य में आशा होती, उल्लास होता, आनन्द होता। उस प्रकार का आनंद जिसमें कामना न होते हुए भी रस का सागर तरंगित रहता।

परन्तु बहुत कम मनुष्यों ने समझा है इस तथ्य को कि धर्म जीवन जीने की ही कला है, मरने की नहीं। धर्म कभी नही कहता कि जीवन को मृत्यु के समान भोगों। संसार की मुसाफिर खाने से उपमा देने वाले लोगों ने जो मृत्यु का जहर भर दिया है जीवन में उसके कारण ही हम धर्म को अपने-अपने पक्ष में मोड़ने के प्रयत्न में लगे हैं।

हम धर्म की सीख लेते-देते हैं। हमने हजारों वर्षों से धर्म की शिक्षा पाई है परम्परा से और उसी परम्परा से दी भी है। फिर भी

हम धर्म की स्थापना में निरन्तर असफल रहे हैं। आज तक यह संसार धार्मिक नहीं हो सका है।

आज से पाँच हजार वर्ष पहिले कृष्ण ने अपने अवतार का उद्देश्य धर्म की स्थापना ही बताया था। किन्तु कितनी सफलता मिल सकी उन्हें अपने उस उद्देश्य की पूर्ति में। पाखण्डियों और धर्म के मुखौटे लगाकर अधर्म की जड़ को मजबूत करने का भरपूर प्रयत्न किया था उस समय भी।

उसका मुख्य कारण भी एक ही था कृष्ण ने धर्म को आधार माना जीवन का और उनके विरोधियों ने माना मृत्यु का। और उन्होंने धर्म की व्याख्या भिन्न कर डाली। उनके विचार में धर्म का पालन युवकों का कार्य है ? क्यों कि वृद्ध मृत्यु के कगार पर खड़ा है।

परन्तु महाभारत युद्ध ने न तो युवाज्यों को छोड़ा, न वृद्धों को। युद्ध कभी किसी की आयु नहीं देखता, वरन् सभीको मृत्यु का पाठ पढ़ाता है किन्तु जो लोग युद्ध करते हैं, वे जीवन में अधिक सुख-भोग की कामना से ही करते हैं। इसलिए युद्ध-धर्म हो चाहे शान्ति-धर्म, मृत्यु का नहीं, जीवन का ही धर्म है।

भगवान् में विश्वास रखने वाले लोग कहते हैं कि सुख की आकांक्षा है तो जप करो, पूजा या उपासना करो, भावनामयी भक्ति करो। ऐसा करने से भगवान् मिलेंगे। जो कुछ करना है कर लो, बाद में कुछ नहीं होगा। 'चार दिन की चाँदनी फेर अँधेरी रात।' मृत्यु मुख फैलायेगी तब कुछ भी नहीं बनेगा, कुछ भी नहीं सूझेगा उस समय।

जब वह उपदेश लोगों के कानों में गूँजता है तब आतंकित कर देता है मृत्यु-भय से। वे सोचते हैं कि जप, योग, पूजा, उपासना आदि करने से शायद मृत्यु दूर भाग जाय, शायद आयु लम्बी हो जाय। इसी भय से करने लगते हैं जब, तप आदि।

किन्तु जिस मनुष्य ने नहीं समझा धर्म का स्वरूप और नहीं जाना

आत्मा-परमात्मा के विषय में, नहीं जाना जीवन-मृत्यु के विषय में, उसके प्राणों की गहराई में जप, योग, पूजा, उपासना आदि का प्रवेश नहीं हो सकता। यदि वह जप करेगा तो उसका अस्तित्व मन के ऊपरी स्तर पर, चेतन स्तर पर ही रहेगा, योग, पूजा, उपासना आदि सभी की पहुँच वहीं तक रहेगी, उससे अचेतन पर कोई प्रभाव नहीं, प्राण पर कोई प्रभाव नहीं, और जो अचेतन मन या प्राण को प्रभावित नहीं कर सका, वह धर्म शाश्वत नहीं हो सकता, जीवन देने वाला नहीं हो सकता।

जीवन की अनन्त लहरें

जीवन की लहरें अनन्त हैं, वे आज से नहीं अनादिकाल से निरन्तर उठ रही हैं। उनमें प्राणों का संगीतमय नृत्य चल रहा है अनवरत रूप से। यह जीवन अपने स्पन्दनों के कारण सदा से संघर्ष करता रहा है। उसने न जाने कितने कगारों को ढा दिया, न जाने कितने बाँधों को तहस-नहस कर दिया। किन्तु मजबूत कगार या सुदृढ़ से सुदृढ़ बाँध भी इस जीवन को नहीं बाँध सके।

किसी की शक्ति नहीं है जो इस जीवन को नष्ट कर दे। आज तक कोई भी शक्ति उसे समाप्त करने में सफल नहीं हो सकी। न इसके क्रिया-कलापों में कोई धर्म आड़ा आ सका और न उन धर्मान्धों का उन्माद जो जीवन को मिटाने पर तुले हैं।

जीवन क्या है ? यह एक ऐसा विषय है, जिसके मूल अभिप्राय से सभी सहमत हैं। इसके स्वरूप का विरोध शायद ही किसी ने किया हो। देहाध्यास वाले लोग भी जब तक उनकी आँखें नहीं खुलतीं शरीर को जीवन मानते हैं, बाद में वे भी अपनी मान्यता बदलने को विवश होते हैं।

जीवन आत्मा के साथ है। कुछ लोग जीवन को आत्मा का विशेषण मानते हैं तो कुछ लोग पर्याय। वस्तुतः आत्मा अविनाशी है और

जीवन भी मरणशील नहीं तो एक ही धर्म हुआ उन दोनों का। जिन दो पदार्थों का एक धर्म है, उनमें भिन्नता नहीं हो सकती, उनमें अलगाव नहीं हो सकता।

इससे यह मान लेना कि जीवन आत्मा का पर्याय है, अनुचित नहीं समझा जा सकता। किन्तु जीवन को शरीर का साथी नहीं मान सकते और वह शरीर का पर्याय ही हो सकता है। क्यों कि शरीर मरण धर्मा है, नाशवान है, जबकि जीवन नाशवान नहीं है, वह शाश्वत है, सदा से उसी प्रकार चला आया है जिस प्रकार वर्तमान में है।

न जाने कितने शरीर मर-मर कर नष्ट हो गये, किन्तु जीवन कभी नहीं मरा। शरीर के मरते ही जीवन उससे निकल कर अन्य शरीर में प्रविष्ट हो गया। वह उसी प्रकार से शरीरों का परित्याग करता रहा, जिस प्रकार कोई व्यक्ति किसी अस्थायी निवास स्थान का परित्याग कर दे।

इस प्रकार शरीर मरेंगे, जीवन नहीं मरेगा। जीवन तो सदैव हमारे साथ रहेगा। जहाँ हम होंगे, वहाँ जीवन होगा। यह शरीर नही तो दूसरा शरीर सही, दूसरा नहीं तो तीसरा. और वह भी नही तो चौथा, पाँचवा आदि।

इसीलिये हमारा धर्म है उस कर्म को करना, जिसके लिए हमें इस शरीर की प्राप्ति हुई है। यह समझकर हमें कोई कर्म नहीं करना चाहिए कि हम मर कर जायेंगे, वरन् यह मानकर करना चाहिये कि हम जो कुछ भी करेंगे, उसका फल हमारे साथ रहेगा।

न हमारा जीवन ही बदल सकता है, न कर्म फल ही। इसलिये अपने कर्तव्य से इसलिये पीछे नहीं हटना चाहिए कि हमारा जीवन समाप्त हो जायगा। हमें अपने इसी शरीर में वह कार्य करने चाहिए

जो हमारे लिए तो उत्कर्षकारी हों ही, समस्त प्राणियों के लिए ही हितकर सिद्ध हों।

शास्त्रों ने हम परोपकार की प्रेरणा दी है, लोकहित करने की प्रेरणा दी है। हमने यह नवीन जीवन प्राप्त किया है, इसमें वे पुष्प खिलाने चाहिये, जिनकी सुगन्ध सर्वत्र फैल जाय और यह संसार-उपवन हरा भरा हो जाय। हम अपने जीवन को हर्ष, आनन्द, उल्लास और उत्साहमय बनाने में तत्पर रहें। यही जीवनवादी धर्म हैं, इसके विपरीत जितने भी धर्म हैं वे सभी मृत्युवादी हैं।

मृत्युवादी धर्म कुछ भी कहे, उसकी वृद्धि करनी चाहिए। निश्चय ही जीवन-ऊर्जा हमारे भीतर विद्यमान है, किन्तु हम उसके विषय में या तो जानते ही नहीं, और यदि जानते भी हों तो उतना कम जिसे जानना नही कह सकते।

यदि हम जीवन की ऊर्जा की खोज करना चाहें तो हमें अपने ही भीतर गहरा प्रविष्ठ होना होगा। उतना गहरा जिससे आत्मा के समीप तक पहुँचा जा सके। यदि हम ऐसा करने के लिए कटिबद्ध हो जाएँ तो जीवन ऊर्जा की ही नहीं आत्मा की भी प्राप्ति कर सकते हैं।

यदि मनुष्य इस प्रकार की उपलब्धि में सफल हो जाय तो उसे किसी अन्य वस्तु की आकांक्षा ही न रहे। आत्म ज्ञानियों ने इस जीवन-दर्शन को जितना अधिक महत्त्वपूर्ण माना है, हम उतना ही अधिक उससे दूर भाग रहे हैं।

जीवन-दर्शन का उद्देश्य–शांति की खोज

उस दर्शन का उद्देश्य शांति की खोज रहा है। शांति की खोज करने के इच्छुकों को प्रथम अपना मन शांत बनाना होगा। मन अशांत रहा तो वह शांति को किस प्रकार खोजेगा ? क्या कोई अशांति के द्वारा शांति को खोजने के प्रयत्न में सफल हो सकता है ?

और हम हैं कि धर्म के वशीभूत होकर भागते हैं कोलाहल पूर्ण स्थानों की ओर, दौड़ते हैं वहाँ जहाँ भीड़-भाड़ है, जहाँ विविध प्रकार की ध्वनियाँ निकल रही हैं, जहाँ अनेक प्रकार के शब्द उठ रहे हैं। आज का धर्म इसी प्रकार के वातावरण को धार्मिक सिद्ध करने की जी तोड़ कोशिश कर रहा है।

परन्तु धर्म कोलाहल में नहीं, ध्वनियों में नहीं, भीड़-भाड़ में नहीं धर्म है वहाँ जहाँ का वातावरण शांत है, जहाँ भीड़-भाड़ नहीं, एकान्त है, जहाँ शब्द ने नीरवता धारण कर ली है, जहाँ भाँति-भाँति की सुगन्धें तो फैली हुई हो सकती हैं, किंतु बनावटी नहीं। क्योंकि धर्म किसी भी बनावट को पसन्द नहीं करता, स्वीकार नहीं करता।

और इसी वातावरण में हम खोज सकते हैं जीवन-ऊर्जा को। इसी वातावरण में प्राप्त कर सकते हैं हम उसे जो मानव-जीवन के उद्देश्य में निहित है। इसी वातावरण में हम निरन्तर बढ़ सकते हैं उस लक्ष्य की ओर जो हमें संसार में महत्त्वपूर्ण बना सकता है। इसी वातावरण में निहित है वह जीवन-दर्शन जिसकी चाहना में बड़े-बड़े विद्वान् और योगी पुरुष भी निरन्तर आज तक प्रयत्नशील रहे हैं।

सत्य, शिव और सुन्दर की उपलब्धि

महात्माओं ने मानव जीवन का उद्देश्य सत्य, शिव और सुन्दर की खोज बताया है। किंतु हममें से कितने हैं जो उसके लिए प्रयत्न करते हैं। क्यों नहीं करते प्रयत्न ? इसीलिए न कि हम जानते हैं कि हमें मरना है और मरने से पहिले उसे भोगो, जो सरलता से प्राप्य है।

मरने वाले मनुष्य को सत्य की आवश्यकता क्या है ? क्योंकि वह तो मरेगा, और जब तक मरेगा तब तक यदि सत्य का ही व्यवहार करता रहा अथवा उसी की खोज में लगा रहा तो सांसारिक आनन्द की उपलब्धि कैसे होगी उसे ? यही प्रश्न उसे भोगवाद की ओर प्रवृत्त

करता है। उस भोगवाद की ओर जो कलुषित है, घृणित है, अनुपयोगी है, फिर भी उसे उपयोगी होने का प्रमाणपत्र मिला हुआ है।

शिव के विषय में भी कुछ ऐसे ही तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं। शिव का अभिप्राय है कल्याणमय, जो कल्याणमय है वह चिरस्थाई है, अमर है। किंतु भोगवादी कहता है कि अभी कल्याण की जरूरत नहीं है हमें। जब मरना ही है तो मरने से पहिले कल्याण की मत सोचो, भोग की सोचो। कल्याण तो मरने के बाद की बात है, उसकी चिंता अभी से क्यों ?

सुन्दर के सम्बन्ध में मनुष्य अनिश्चित है। वह अभी तक निर्णय नहीं ले सका कि सुन्दर क्या है ? क्योंकि सुन्दर की परिभाषा आज तक किसी विद्वान् ने नहीं बताई। अमुक स्त्री सुन्दर है तो क्या बात सुन्दर है उसमें ? बस, 'वह सुन्दर है' यही कह सकता हैं पुरुष। स्त्री भी ऐसा ही कह सकती है कि 'अमुक पुरुष सुन्दर है' किंतु वह भी नहीं बता सकती कि किस आधार पर कह रही है व किसी पुरुष को सुन्दर ?

क्या गोरा वर्ण सुन्दरता का प्रतीक है ? क्या सुगठित देहयष्टि और आकर्षक नाक-नक्श सुन्दरता का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं ? क्या किसी की चाल, वाणी या चञ्चल नेत्र उसे सुन्दर सिद्ध कर सकते हैं ? यदि ऐसा होता तो संसार में सुन्दर स्त्री-पुरुषों की बहुतायत ही दिखाई देती। किंतु ऐसा होता नहीं, सुन्दर स्त्री-पुरुषों की सख्या होगी भी तो नगण्य ही। क्योंकि सुन्दरता का माप-दण्ड वह नहीं है जो गिनाया गया है।

एक शायर चेतावनी देता है—'भोली-भाली शक्ल वाले होते हैं जल्लाद भी। गोरी चमड़ी, सुन्दर नाक-नक्श, सुगठित शरीर और भोली शक्ल यह सब सुन्दरता के प्रतीक हो सकते हैं, किंतु इनमें यथार्थ रूप से सुन्दरता रहती ही हो, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसा सुयोग होते हुए भी यदि हृदय में क्रूरता है तो कैसी सुन्दरता ?

इसीलिए मनोवैज्ञानिक कहते हैं कि किसी स्त्री या पुरुष की सुन्दरता की पहिचान उसका रूप-यौवन नहीं है, वरन् स्वभाव है। यदि स्वभाव में जहर घुला हुआ है तो वह स्त्री या पुरुष सुन्दर होते हुए भी असुन्दर है।

किसी स्वर्ण पात्र में विष भरकर रख दो और कहो कि यह बड़ा सुन्दर है तो लोग उसकी ओर आकर्षित हो सकते हैं, और इस धोखे में भी आ सकते हैं, कि उसमें कोई बहुत गुणकारी और स्वादिष्ठ पेय होगा। किंतु उनकी वह धारणा निष्फल तथा विपरीत परिणाम वाली ही सिद्ध होती है।

स्त्री स्त्री है, उसके बाह्य रूप की ओर ध्यान देने में जीवन का सुख निहित नहीं है, वरन् सुख तो उसकी आंतरिक सुन्दरता में है, जो सद्-गुणों से संयुक्त होती है। यदि सद्गुण नहीं हुए तो वह सुखी तो क्या बनाएगी, किसी प्रकार से खतरनाक न बन बैठे, यही बहुत है।

यही बात पुरुष के विषय में है, वह भी जब उदार चेता, सत्य प्रतिज्ञा और शुभकर्मी है, तभी सुन्दर कहलाने का अधिकारी है। यदि उसमें दुर्गुण हैं तो श्रेष्ठ सौम्य देह-कांति वाला होने पर भी असुन्दर ही है।

दुर्गुण छिपे हुए रहें तो भी चाहे जब दुःखदायी हो सकते हैं। तल-वार में जो तीक्ष्ण धार है, वह चाहे म्यान के आवरण में भले ही छिप जाय, किन्तु उसका मारक गुण तो नष्ट हो ही नहीं सकता। इसीलिए बहुत-से सतोगुणी प्रवृत्ति के लोग यह कहते हैं कि कभी किसी मारक हथियार को अपने पास न रखो। हो सकता है कि कभी तुम्हें ही क्रोध आ जाय और स्वयं ही उसका दुरुपयोग कर बैठो। हो सकता है कि कोई विरोधी हो, जो तुमसे अधिक बलवान हो, तुम्हारे ही हथियार को छीनकर तुम्हीं को शिकार बना बैठे।

तो, हम कह रहे थे कि मानव-जीवन का उद्देश्य सत्य, शिव और सुन्दर की खोज करना है। उस प्रकार की खोज हम अपने-जीवन-काल में किसी भी स्तर पर आरम्भ कर सकते हैं। प्राचीन ऋषियों ने सर्व प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम से मानव जीवन की नींव डाली थी, जिसका उद्देश्य उस भावना को ही बल प्रदान करना था, जिसके द्वारा सत्य, शिव, सुन्दर की खोज के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि तैयार हो सके।

यदि आरम्भ से ही स्वभाव को किसी दिशा में मोड़ दिया जाय तो वह जीवन भर उसी दिशा में प्रवाहित रहेगा। इसीलिए ऋषियों ने बालवपन से ही मनुष्य को सत्य, शिव और सुन्दर की ओर आकर्षित किया था।

किन्तु समय ने उस नींव को खोखली बनाने का प्रयत्न किया है। ब्रह्मचर्याश्रम को इस युग के मनुष्य ने उस सीमा तक नकार दिया, जिससे वह पुनः वापस न लौट सकता हो। यदि अब भी हम बाल्यकाल से ही मनुष्य को उस प्रकार की सीख दे सकें, जिससे वह अपने गृहस्था-श्रम को सुखमय बना सके तो हम मानव जाति का बहुत बड़ा उपकार कर सकते हैं।

बाल्यकाल की उत्तम शिक्षा और ब्रह्मचर्य पालन द्वारा वीर्य रक्षा के महत्व का प्रतिपादन ही किशोरावस्था से ऊपर उठने पर उस लक्ष्य की ओर प्रेरित करता था, जिसमें जीवनवाद की प्रतिक्रिया विद्यमान रहती है। यद्यपि आज ब्रह्मचर्याश्रमों का अभाव है तो भी हम चाहें तो अपने बालकों को उस प्रकार की शिक्षा अब भी दे सकते हैं।

कैशोरावस्था से ऊपर उठने पर ही वह अवस्था आ जाती है, जिसमें जीवन के आनन्द का वह रहस्य भरा पड़ा है जो अन्य किसी भी अवस्था में नहीं हो सकता। इसी अवस्था में गृहस्थ जीवन का आरम्भ होता है, जिसे आचार्यों ने अन्य सभी आश्रमों से श्रेष्ठ बताया है।

शरीर में विद्यमान अद्‌भुत ऊर्जा

शरीर में जो एक अद्‌भूत ऊर्जा विद्यमान है, उसके महत्त्व का ज्ञान भी इसी आयु में हो सकता है। यह वही ऊर्जा है, जिसका कार्य शरीर को सबल, स्वस्थ्य रखना तो है ही, कुछ ऐसा भी है, जो नवीन रचना में भी सहायक सिद्ध होती है।

उसी ऊर्जा को जीवन शक्ति कहते हैं। वही ऊर्जा साधारण से लेकर विशिष्ठ जनों तक का निर्माण करती रही है। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद, गाँधी सभी इसी ऊर्जा के द्वारा ही संसार में प्रकट हुए हैं। आज भी इसी के द्वारा उस प्रकार के या उनसे अधिक महिमा वाले महामानवों का आविर्भाव सम्भव है।

यह वही ऊर्जा है जिसे काम-ऊर्जा कहते हैं, यह वही ऊर्जा है जो जीवनी-शक्ति के नाम से पुकारी जाती है। यह वही ऊर्जा है जो मनुष्य को सदा क्रियाशील बनाए रहती और भोग तथा योग दोनों के श्रेष्ठ परिणामों का भागी बनाने में सहायक होती है।

परन्तु उस ऊर्जा का महत्त्व को हम समझ नहीं सके हैं। जिस दिन समझ लेंगे उस दिन महामानवों को ही उत्पन्न नहीं करेंगे, वरन् शायद स्वयं भी महामानव बनने का सुयोग प्राप्त कर लें।

किन्तु क्या हम इस ऊर्जा को समुचित सम्मान दे सके अथवा इसका सदुपयोग कर सके हैं? नहीं, क्योंकि हमने धारणा बना ली है कि यह ऊर्जा गोपनीय है, गोपनीय ही रहनी चाहिए। इसका उजागर होना जनहित में नहीं है। किन्तु हमारी यही धारणा हमें असफलता के गर्त में धकेल रही है हम उसे जितना ही गोपनीय रखना चाहते हैं,वह उतनी ही उजागर होती जा रही है। आप सर्प को पाँव मारकर कुचलने लगें तो वह भी प्रतिरोध के लिए तैयार रहेगा। वरन् आपके द्वारा प्रहार होते ही वह फुंकारेगा और अवसर मिलते ही काट लेगा।

फिर सर्प ही क्यों, किसी का भी दमन करो, उसमें जितनी शक्ति होगी, उतना ही प्रतिरोध करेगा। कोई भी यह नहीं सोचेगा कि आपके प्रहार में कोई कारण रहा होगा। वह आपके कारण की अपेक्षा अपने पक्ष वाले का कारण ही प्रमुख मानेगा।

दमन सदा ही प्रतिरोध का कारण होता है। फिर यदि दमित ऊर्जा भी प्रतिरोध करे तो उसमें आश्चर्य क्या? आर जिसका दमन करोगे, वही टकराएगा आपसे, चाहे किसी भी प्रकार टकराए। शक्ति कम रही तो टकराने के लिए अवसर की ताक में रहेगा।

और फिर यह प्रकृति का नियम है कि आप जिससे टकराना नहीं चाहेंगे, उससे जाने-अनजाने टकरा ही बैठेंगे। विचार चलते हैं मन को आक्रांत करते हुए, मस्तिष्क को प्रभावित करते हुए और वे ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देते हैं कि आपको टकराना ही पड़े। प्रकृति का कैसा विचित्र नियम है कि बहुत बार हम जो नहीं चाहते, वही कर बैठते हैं।

आप सोचिए कि कहीं मुझे उस आयोजन में बैठे हुए लघु शङ्का न उठे। क्योंकि आप नहीं चाहते उसे तो वह उठेगी अवश्य। क्यों उठेगी? इसलिए कि आपका ध्यान उसी पर केन्द्रित रहेगा। इस प्रकार मनुष्य जिस बात से बचना चाहता है उसी ओर अधिक आकर्षित होता है, जिसे छिपाना चाहता है उसी को प्रकट कर बैठता है। यदि वह स्वयं नहीं करता तो उसका चेहरा कर देता है। जो लोग मुखाकृति विज्ञान के पण्डित होते हैं, वे किसी बात के प्रकट न करने पर भी उसे ताड़ लेते हैं।

काम-वासना भी छिपाए नहीं छिपती, विशेष कर उस स्थिति में जब उसे दमन के द्वारा दुराराध्य बना दिया गया हो, अनुपयोगी बना दिया गया हो। उस स्थिति में क्रूद्ध सर्पिणी के समान विपरित परिणाम वाली हो जाती है और हमें उस दिशा में बढ़ने को प्रेरित करती है, जिसे धृणित और हानिकारक कहा जा सकता है।

वह वस्तुतः हमारी ही नासमझी का परिणाम है। हम उसी नासमझी के कारण उपलब्ध ऐश्वर्य को स्वयं ही खोते रहे हैं। हमने ऊर्जा का स्वरूप नहीं समझा और न ऊर्जा की सहयोगिनी नारी का ही स्वरूप समझ सके हैं। हम नारी के बाह्य रूप पर मोहित हैं और ऊर्जा के अनुपयोगी पक्ष को उपयोगी मानकर अन्धे के समान बढ़ रहे है आगे। हमें ज्ञान नहीं है कि लक्ष्य पर किस प्रकार पहुँच सकेंगे।

काम-ऊर्जा को ठीक प्रकार समझें

उस ऊर्जा को ठीक प्रकार से समझें। उसे ठीक प्रकार से समझे बिना सेक्स के मिथ्या प्रयोग से नहीं बचा जा सकता। यदि उसका गलत करते रहोगे तो वह भीषण आग के रूप में परिवर्तित हो जायगी और जला डालेगी समस्त धातुओं को, पानी फेर देगी समस्त आशाओं पर क्योंकि संसार उससे बँधा है। संसार की कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो सेक्स ऊर्जा की परिधि से बाहर पड़ी हो।

यही कारण है कि मनुष्य जीवन में सबसे अधिक वही काम शक्ति है, उससे बढ़कर अन्य कोई शक्ति नहीं है। इस तथ्य को विद्वानों, योगियों, तपस्वियों आदि सभी ने स्वीकार किया हैं। यही कारण है कि मानव जाति से सम्बन्धित समस्त साहित्य इसी शक्ति से भरा हुआ है। वेद, पुराण, दर्शन, उपनिषद्, ब्राह्मण ग्रन्थ, गृह्य सूत्र, स्मृति, नीति

आदि कौन-सा शास्त्र ऐसा है जिसमें किसी न किसी रूप में काम-शक्ति की चर्चा न हुई हो ?

और वे शास्त्र ही नहीं, वे धर्म ग्रन्थ ही नहीं, मनुष्य का समूचा जीवन-दर्शन ही सेक्स पर आधारित है। क्यों ? इसलिए कि जीवन में उससे अधिक आवश्यक कुछ भी नहीं है। इसलिए कि सेक्स मनुष्य के समस्त प्राणों में समाया हुआ है। इसलिए कि सेक्स मनुष्य को शक्ति देता है।

इस तथ्य को हम नहीं जानते, वह संयमशील मनुष्य जानता है जो सेक्स के दुरुपयोग से बचा है। वह विचारक जानता है जो सेक्स की शक्ति से अध्ययन में पारगंत हो चुका है। किन्तु इसकी जानकारी कोई बहुत कठिन नहीं है, कोई बहुत रहस्यमयी नहीं है। जिसने जानने का निश्चय कर लिया वही जान गया। जिसने विवेक से काम लिया उसी ने उचित उपयोग का ज्ञान प्राप्त कर लिया।

काम-वासना में आकर्षण है, वह आकर्षण दो मार्गों से आकर्षित कर रहा है हमें। एक मार्ग है 'अहं' का, 'मैं' का उसमें जो कुछ भी है, वह केवल 'मैं' को ही पुष्ट करने वाला है।

दूसरा मार्ग है आकर्षण का 'अहं' से रहित, 'मैं' से रहित। जिसने इन दोनों मार्गों को ठीक प्रकार से समझ लिया, वह दूसरे मार्ग पर चलना ही श्रेयस्कर समझता है। क्यों कि जिसमें अहंकार नहीं, वहां समय भी थम जाता है क्षणभर के लिए। सतत गतिशील काल ने यदि कहीं हार मानी है तो वहीं जहाँ समाधि की अवस्था उत्पन्न हो जाती हो। यह अवस्था या तो योग में उत्पन्न हो सकती है अथवा कामोप-भोग के अन्तिम क्षण में। कामवासना का उचित रूप में उपभोग करने वाला मनुष्य उस ऐक ही क्षण में निहाल हो जाता है।

बस, कामवासना के उपभोग में यही एक ऐसा महत्वपूर्ण क्षण होता हैं, जिसमें स्वाभाविक अनुभूति होती है और स्वाभाविक है, वह

धार्मिक भी हैं, इसलिये उस अनुभूति को धार्मिक अनुभूति भी कह सकते हैं।

परन्तु, उस अनुभव पर वही ठहर पाते हैं, जिन्होंने अपने को उस योग्य बना लिया है। आँखें हैं, उनका कार्य है देखना, किन्तु एक ही दृश्य को सभी आँखें एक जैसा नहीं देख पातीं। कान सुनते हैं किसी बात को, उसके अभिप्राय का यथार्थ रूप में ग्रहण वे ही कान कर पाते हैं, जिनका उस बात से अधिक लगाव हो।

इसी प्रकार कामोपभोग में भी अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार ही अनुभव हो पाता है। चचल मन वाले मनुष्य उस महत्वपूर्ण क्षण में भी कोई अनुभव नहीं कर पाते। क्योंकि वे भोग की विपरीत विद्या में अधिक आसक्त होते हैं। उसी विधा में जिसमें अहं है, मैं है और कालचक्र रुकता भी है तो वह अहं ही उसके रुकने का अनुभव नहीं होने देता है।

जिस मार्ग में अहं नही है, मैं नहीं है, उस मार्ग में ही ज्ञान है, उसी में दिव्य प्रकास है, उसी पर दृढ़ता से बढ़ने वाले को आत्मा का दर्शन हो सकता है, परमात्मा से साक्षात्कार हो सकता है और हो सकता हैं वह महापुरुषार्थ जिसे ज्ञानीजन मोक्ष कहते हैं। इस प्रकार काम-ऊर्जा के द्वारा हम परम ऐश्वर्य की प्राप्ति में सहज ही सफल हो सकते हैं।

———

कामक्रीडा और कामकला का रहस्य

सूक्ष्म योनि स्थान और कामरूप पीठ

काम-क्रीडा और कामकला दो प्रचलित शब्द है, जिनका उल्लेख वेद, पुराण, स्मृति आदि ग्रन्थों में तो हुआ ही है, योग तथा तन्त्रशास्त्रों में भी इन शब्दों को यत्र तत्र स्थान प्राप्त है। किन्तु इन दोनों शब्दों में जो अन्तर है, उसे साधारण मनुष्य नहीं समझते। क्योंकि इन्हें समझने के लिए अधिक गहराई में जाना आवश्यक होता है।

काम-क्रीडा स्त्री-पुरुषों के मध्य चलने वाली एक क्रिया विशेष है, जिसके विषय में सभी जानते हैं। किन्तु कामकला का अभिप्राय उससे भिन्न है-योग शास्त्रियों ने इस शब्द का प्रयोग कुण्डलिनी शक्ति के लिए किया है। गोरक्ष पद्धति का कथन है—

आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम्।
योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यहे॥

अर्थात्—'प्रथम चक्र मूलाधार और दूसरा चक्र स्वाधिष्ठान है। इन दोनों चक्रों के मध्य में योनि स्थान है, यही कामरूप पीठ है।' रुद्रयामल तन्त्र में कहा है—

नमो महाविन्दुमुखी चन्द्र सूर्य स्तन द्वया।
सुमेरुद्दार्थ कलया शोभमाना महीपदा॥
कामराज कला रूपा जागर्ति स चराचरा।
एतत् कामकला व्याप्तं गुह्याद् गुह्यतरं महत्॥

अर्थात्—महाविन्दु मुखवाली, सूर्य-चन्द्र रूप दो स्तन वाली, जिसकी आधी कला सुमेरु और आधी कला शोभायमान पृथिवी है तथा जो राज-

कला रूपिणी समस्त चराचर प्राणियों में कामकला को जगाती और सभी में काम कला रूप से व्याप्त है उस गोपनीय से गोपनीय को भी नमस्कार है।

योग शास्त्रों के अनुसार मनुष्य शरीर में छः चक्र विद्यमान हैं, जिनमें प्रथम चक्र मूलाधार है, दूसरा स्वाधिष्ठान, इन दोनों चक्रों के बीच में कुण्डलिनी महाशक्ति का स्थान है, वहीं वह महाशक्ति साढ़े तीन कुण्डली लगाये पडी सोती है। समस्त प्राणियों में काम-शक्ति का उद्भव वही करती है, इसलिए विद्वान् उसी महा शक्ति को काम-वासना (सेक्स) में भी परम कारण मानते हैं।

इस सब पर विचार करने से विदित होता है कि पुरुष का पुरुषत्व महाशक्ति की ही देन है, उसका उत्पत्ति कारण भी स्त्रीत्व ही है। स्पष्ट ही पुरुष की उत्पत्ति में भी स्त्री ही कारण है। नर हो या नारी, सभी की उत्पत्ति स्त्री-योनि से ही है।

उभयलिंगी शरीर

जब पुरुष के जन्म में मूल साधन स्त्री है तो उसमें भी पुरुषेतर क्षमता (स्त्रीत्व) भी होना स्वाभाविक है। भगवान् शंकर का अर्ध-नारीश्वर स्वरूप भी इस मान्यता की पुष्टि करता है और इसी मान्यता के आधार पर शास्त्रकारों ने स्त्री और पुरुष मिलकर पूर्ण अङ्ग होना माना है, उसमें स्त्री को पुरुष की अर्द्धांगिनी कहा जाता है।

इसका प्रबल प्रमाण वे घटनाएं प्रस्तुत करती हैं, जो कि स्त्री-पुरुषों के यौन में परिवर्तन से सम्बन्धित हैं। आये दिन अखबारों में पढ़ने को मिलता हैं कि अमुक पुरुष स्त्री बन गया और अमुक स्त्री-पुरुष बन गयी। घटनाओं के अनुसार जिन स्त्रियों के बच्चे हो चुके थे, उनका स्त्रीत्व गायब होकर पुरुषत्व के चिन्ह उभर आये तथा जो पुरुष

बाल-बच्चे वाले थे, उनका पुरुषत्व ही गायब नहीं हुआ, पुरुषत्व से सम्बन्धित चिन्ह गायब होकर स्त्रीत्व के चिन्ह प्रत्यक्ष हो गये। आधुनिक शल्य चिकित्सा की भी ऐसी घटनाओं में पर्याप्त योगदान रहा है।

इससे शरीर शास्त्रियों की यह मान्यता सही हो जाती है कि प्रत्येक मनुष्य के शरीर में उभय लिंगी अस्तित्व विद्यमान हैं, किन्तु जिसमें जिस लिंग का अंश अधिक होता है, वह उसी के अनुसार रूप धारण करता है। उसके गुण, कर्म, स्वभावादि में वैसाही रुझान पाया जाता है।

सुनते हैं कि अनेक पुरुष नारी-स्वभाव जैसी चेष्टाएँ करने में सुख का अनुभव करते हैं तथा अनेक स्त्रियों में भी वही बात पाई जाती है। कुछ में दोनों के ही मिश्रित लक्षण देखे जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि लिंग परिवर्तन की सम्भावनाएँ भी मनुष्यों में पहिले से ही विद्यमान रहती हैं।

परन्तु यह सब स्थूल शरीर से सम्बन्धित मान्यताएँ हैं। सूक्ष्म शरीर की स्थिति इससे भिन्न है। विद्वानों से सूक्ष्म शरीर को भी संस्कारानुसार माना है और जन्म के साथ लिंग की प्राप्ति भी संस्कारों के अनुसार ही है।

स्त्री लिंग का सूक्ष्म स्थान 'योनि' कहलाता है, जो कि जननेन्द्रिय मूल में है। इसके विपरीत, पुरुषलिंग का सूक्ष्म स्थान 'लिंग' रूप से मस्तिष्क के मध्यबिन्दु ब्रह्मरन्ध्र में स्थित है। मूलाधार चक्र के योनि गह्वर में ही इसके प्रतीक रूप से कामबीज विद्यमान रहता है। अभिप्राय यह है कि इन दोनों की विद्यमानता एक ही स्थान पर है, किन्तु यह दोनों ही सूक्ष्म महा अवयव सोये हुए पड़े रहते हैं। कुण्डलिनी जागरण की साधना, इन्हीं दोनों को संयुक्त करने की साधना है। इसी साधना को योगियों और तन्त्रशास्त्रियों ने 'कामकला' नाम दिया है।

कामकला का स्थूल रूप सेक्स

जिसे काम-वासना या सेक्स कहते हैं, वह इसी सूक्ष्म प्रक्रिया का स्थूल प्रयोग मात्र है। कामबीज रूप से वही सूक्ष्म शक्ति समस्त प्राणियों में विद्यमान रहकर समय-समय पर उन्हें अपने वशीभूत कर लेती है, जिससे कि संसार में देहधारियों के जन्म में बाधा उपस्थित न हो।

उसी शक्ति ने कामक्रीडा में एक प्रकार के अद्भुत सुख की योजना की है। यदि उस प्रकार के सुखानुभव की योजना न हुई होती तो कोई भी मनुष्य समागम के प्रति आकर्षित नहीं होता, वरन् उस क्रिया में उसे घृणा ही प्रतीत हो सकती थी। ऐसी अवस्था में सृष्टि-रचना का, वंश परम्परा के निर्वाह का कार्य ही नहीं चल पाता।

सर्गारम्भ का इतिहास बताता है कि अव्यक्त परमात्मा से सर्वप्रथम एक ही पुरुष व्यक्त हुआ। उसने सृष्टि उत्पन्न करने का विचार किया, किन्तु उसे सफलता न मिली। बाद में स्त्री-पुरुष की मिश्रित आकृति व्यक्त हुई, अर्धनारीश्वर रूप में, किन्तु वह भी सर्ग-रचना के लिए उपयुक्त सिद्ध नहीं हुई। क्योंकि मैथुनी सृष्टि के लिए आवश्यक स्त्री और पुरुष के अलग-अलग शरीरों का होना।

प्रकृति ने इस आवश्यकता का अनुभव किया और नर-नारी के पृथक्-पृथक् रूपों में आकृतियों की रचना की। तभी सर्ग-रचना का कार्य चल सका। यद्यपि स्थूल रूप से आकृतियाँ भिन्न-भिन्न बनाई गई, उनमें प्रजनन अंग भी भिन्न प्रकार के ही लगाये गये, किन्तु सूक्ष्म रूप से सभी शरीरों में उभय लिंगी सम्भावनाएँ निहित कर दी। वस्तुतः वे सम्भावनाएँ स्वाभाविक थी। अर्धनारीश्वर रूप के भिन्न-भिन्न होने पर भी उनमें जो ऐक्य, जो अभेद प्राकृतिक रूप से विद्यमान था, वह मूल अंश के रूप में सभी को प्राप्त होना ही था। जब मूल

उभयलिंगी था, तब शरीरधारी की स्थूल गति एकलिंगी होते हुए भी उसकी सूक्ष्म गति उभयलिंगी होती ही।

लिंग, जाति-रहित जीवात्मा

वस्तुतः आत्मा का कोई लिंग नहीं है। वह न स्त्री है, न पुरुष उसकी कोई जाति या योनि भी नहीं है। कर्मानुसार उसे किसी भी योनि की प्राप्ति हो सकती है। वह पुरुष, स्त्री, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि कुछ भी बन सकता है। उसकी आयु भी कही जा सकती, क्योंकि वह अनादि काल से ही विद्यमान है। स्त्री, पुरुष आदि का रूप अथवा आयु आदि समस्त उपाधियाँ शरीर की हैं, यह उसके वर्तमान शरीर तक ही रहती है, शरीर के अन्त होने पर उनका भी लोप हो जाता है। रह जाते हैं केवल कर्म, संस्कार, जिन्हें साथ लेकर जाना होता है और उन्हीं संस्कारों के प्रभाव वश जीव को स्त्री, पुरुष, मनुष्य, पशु, पक्षी या वृक्षादि योनियों की प्राप्ति होती है।

स्थूल पुरुष शरीर में जो सृजनात्मक तत्व है उसे शुक्र या वीर्य कहते हैं। स्त्री शरीर में भी प्रजनात्मक द्रव की विद्यानता है जो रज कहलाता है। यह दोनों ही तत्व एक ही सूक्ष्म शरीर में पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं। किन्तु जब तक यह दोनों अलग-अलग रहते हैं, तब तक किसी प्रकार की कोई महती सम्भावना व्यक्त नहीं हो सकती। इन दोनों (शुक्र और रज) का संयोग होने पर ही सफल मानव जीवन की सम्भावनाओं का श्री गणेश हो सकता है।

काम-कला का मुख्य स्थान मस्तिष्क है, क्योंकि उसी के आदेशानुसार शरीर के सब अंग कार्य करते हैं। आचार्यों ने सहस्रार में बिन्दु (शुक्र) की स्थिति स्वीकार की है। कामकला के जाग्रत होने पर शुक्र सहस्रार से ही क्षरित होकर, मस्तिष्क की आज्ञा से योनि स्थान में पहुँचता है। योगी पुरुष कुण्डलिनी स्थान वाले अग्निकुण्ड में गि

हुए उस शुक्र को जलने से बचाने के लिए योनि मुद्रा या व्रजोली मुद्रा के द्वारा सहसा ऊपर की ओर आकर्षित कर सकते हैं ।

शुक्र और रज दोनों को ही योगियों ने बिन्दु नाम दिया है । गोरक्ष पद्धति के अनुसार—

स पुनर्द्विविधो विन्दुः पाण्डुरो लोहितस्तथा ।
पाण्डुरः शुक्रमित्याहुर्लोहिताख्यो महारजः ॥

अर्थात्—वह विन्दु दो प्रकार का है–एक पाण्डु वर्ण का और दूसरा लाल रंग का । पाण्डु (पीले) रंग का विन्दु, शुक्र (वीर्य) और लाल रंग का महारज कहलाता है ।

इन दोनों का स्थान बताते हुए भी गोरक्ष पद्धति में कहा गया है–

सिन्दूरद्रव संकाशं नाभिस्थाने स्थित रजः ।
शशिस्थाने स्थितो बिन्दुस्तयोरैक्य सुदुर्लभम् ॥

अर्थात्—तैलयुक्त सिन्दूर द्रव के समान रज की स्थिति सूर्य-स्थान नाभिमण्डल में है और विन्दु की स्थिति चन्द्र स्थान कण्ठ में है । इन दोनों का एक होना अत्यंत कठिन है ।

'विन्दः शिवो रजः शक्तिः' अर्थात् 'विन्दु (शुक्र) शिव और रज शक्ति है ।' इनके मिलने पर ही परमपद की प्राप्ति होती है । किन्तु बिन्दु और रज का संयोग किस प्रकार से हो सकता है, इस विषय में भी गोरक्षपद्धतिकार संकेत करते हैं—

वायुना शक्ति चारेण प्रेरित तु यदा रजः ।
याति विन्दोः सहकत्वं भवेद्दिव्यं वपुस्ततः ॥

अर्थात्—वायु के द्वारा शक्तिचालिनी मुद्रा की विधि से जब रज का संयोग शुक्र के साथ होता है तब शरीर दिव्यता को प्राप्त हो जाता हैं ।

कुण्डलिनी सोती रहती है, तब तक मनुष्य किसी ऐसे कार्य को सम्पन्न करने मैं समर्थ नहीं हो पाता, जिसे महान् कह सकते हों । योगी

जन इसीलिए उस प्रसुप्त कुण्डलिनी शक्ति को जगाने का प्रयत्न करते हैं। उसकी स्थिति और महत्व पर प्रकाश डालते हुए शिव संहिता में कहा है—

सुषुम्णापि च संश्लिष्टो वीजं तत्र वरं स्थितम् ।
शरच्चन्द्र तेजस्स्वयमेतत्स्फुरात्स्थितम् ।
सूर्यंकोटि प्रतीकाशं चन्द्रकोटि सुशीतलम् ॥

अर्थात्—जहाँ कुण्डलिनी की स्थिति है, वहीं सुषुम्ना का स्थान है तथा कामबीज भी वहीं विद्यमान है। वह बीज शरद् पूर्णिमा के चन्द्रमा जैसे तेज से सम्पन्न एवं स्वयं ही स्फुरण शील है। उसका प्रकाश करोड़ों सूर्यों के समान है तथा करोड़ों चन्द्रमाओं के समान अत्यन्त शीतल है।

उक्त वर्णन से जहाँ कुण्डलिनी शक्ति और काम बीज रूप बिन्दु के महत्व पर प्रकाश पड़ता है, वहाँ सुषुम्ना का महत्व भी उद्घोषित होता हैं कुण्डलिनी-विज्ञान के अनुसार सहस्रार लिङ्ग संज्ञक और मूलाधार योनि संज्ञक है। वस्तुतः यह काम-विज्ञान (सेक्स) के सूक्ष्म रूप एवं आविर्भाव सम्बन्धी ज्ञान ही है। यद्यपि वर्णन में शृङ्गारिकता भी व्यक्त होती है, किन्तु वह किसी प्रकार की अतिशयोक्ति इसलिए नहीं मानी जा सकती कि प्रकृति ने मनुष्यों (स्त्री, पुरुषों) में जिस सूक्ष्म काम-वासना का समावेश किया है, उसे स्थूल रूप में इसी प्रकार समझा जा सकता है।

सहस्रार का महत्व

गीता में जिस ऊर्ध्व मूल और अधो शाखा वाले अश्वत्थ की उपमा दी गई है, वह कल्पवृक्ष यह सहस्रार ही है। योगिजन इसे हजार पंखुवाला कमल भी कहते हैं। तथागत को भगवान् बुद्ध की सम्मान्य स्थिति प्राप्त कराने वाला बोधिवृक्ष भी इससे भिन्न कोई नहीं हो सकता।

सहस्रार में ही कपाल रन्ध्र है । योगियों ने इसे शरीर का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अङ्ग माना है । क्योंकि शरीर के समस्त अङ्ग इसी के द्वारा नियन्त्रित रहते हैं । साधारण मनुष्य का यह प्रधान अवयव उतना क्रिया शील नहीं रहता, जितना कि योगियों का । क्योंकि साधारण व्यक्ति उसे अधिक क्रिया शील और अधिक उपयोगी बनाने की न तो क्रिया जानते हैं और न उसके लिए कुछ प्रयत्न ही करते हैं ।

योगी पुरुष अपने कपाल रन्ध्र को अधिक सबल और अधिक क्रिया शील बनाने के लिए कपाल रन्ध्र धौति का प्रयोग करते हैं । प्रसङ्ग वश उसका परिचय यहाँ दे देना अपेक्षित होगा । वे उस अङ्ग विशेष पर पानी डालते हुए मालिश करते हैं किन्तु अनेक योगी दाँए हाथ के अँगूठे से सूखी मालिश करना ही अधिक उपयुक्त मानते हैं योगिराज घेरण्ड ने भी सूखी मालिश का ही संकेत किया है । उनके मत में उसका अभ्यास दिन में तीन बार करे । सर्व प्रथम तो प्रातः काल सोकर उठने पर, दूसरी बार मध्याह्न काल में भोजन कर लेने पर और तीसरी बार दिनान्त (सायंकाल या रात्रि) में शयन से पहिले करना चाहिए ।

यह क्रिया मस्तिष्क की शक्ति बढ़ाने में भी उपयोगी है । कफ दोषों का निवारण होता और नाड़ी मल-रहित हो जाती हैं । शुक्र दोषों के दूर करने में भी यह क्रिया कुछ कम उपयोगी नहीं है ।

कुण्डलिनी जब तक सोई पड़ी रहती है, तब तक मनुष्य की विशेष क्रियाशीलता भी प्रसुप्त रहती है । साधारण मनुष्य इसे जगाने के विषयमें न तो कुछ जानते हैं, न प्रयत्नशील ही रहते हैं । इसीलिए वे अल्प ज्ञान वाले, अल्प शक्ति वाले और अल्प प्रभाव वाले होते हैं ।

कुण्डलिनी का जागरण योग विधि से शीघ्र हो सकता है । गीता में भी कहा है—'अपाने जुह्वति प्राणं प्राणापानं तथापरे' अर्थात् कुछ योगी अपान को प्राण में होमते हैं और प्राण को अपान में, कुछ योगी अन्य विधि प्रयोग में लाते हैं । योगीजन इसी विधि से कुण्डलिनी शक्ति को जगाने में सफल होते हैं ।

मानव शरीर तीन प्रकार के शरीरों से बना है—स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर। कुण्डलिनी की क्षमता तीनों ही शरीरों में विद्यमान रहती है। स्थूल शरीर में उस क्षमता का रूप 'ओजस्' होता से, सूक्ष्म शरीर में तैजस् और कारण शरीर में वर्चस्। इन तीन भागों में ही समूची तेजस्विता का विभाजन हुआ है।

परन्तु, स्थूल शरीर के साथ इसकी तेजस्विता कुछ विकृत प्रकार की भी हो जाती है। उसका विकृत रूप काम-वासना के रूप में उभर कर सामने आता है। मनुष्य शरीर में जिस काम क्षमता की सम्भावना हो सकती है, उसमें भी मुख्य कारण कुण्डलिनी शक्ति की तेजस्विता ही है। हम देखते हैं कि किसी चूर्णित (पाउडर) पदार्थ के कण यत्र-तत्र उड़ते हैं, वे जिस वस्तु से मिलते हैं, उसमें अपने गुण का कुछ अंश अवश्य ही समाविष्ट कर देते हैं। वर्षा होती है तो बहुत बार उसकी बौछार वायु के संयोग से घर के भीतर बहुत दूर तक जा पहुँचती है।

यद्यपि कुण्डलिनी शक्ति का भौतिक काम-वासना से किसी प्रकार का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि वह शक्ति स्थूल नहीं, अत्यन्त सूक्ष्म है। इतनी सूक्ष्म कि चिकित्सा-विज्ञान में परीक्षण के कार्य में लाए जाने वाले यन्त्र भी इसे देख नहीं सकते। ऐक्सरे, जिसके द्वारा शरीरके सभी आन्तरिक अङ्गों के विषय में पता लगाया जा सकता है, कुण्डलिनी शक्ति और उससे सम्बन्धित चक्रों के रेखाङ्कन में असफल रहता है।

तो भी काम-यन्त्रों पर उसका परोक्ष रूप में अवश्य ही प्रभाव पड़ता है। भौतिक दृष्टि से काम-वासना और रति प्रवृति से कार्य की सम्पन्नता स्त्री-पुरुष दोनों की जननेन्द्रियों पर ही निर्भर है। यदि यह इन्द्रियाँ परस्पर में सक्रिय संयोग का अवसर पाती हैं तभी प्रजनन क्रिया फलवती होती है।

आधुनिक विज्ञान द्वारा पुष्टि–

आधुनिक विज्ञान ने भी इस सम्बन्ध में अन्वेषण करके यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रजनन केन्द्रों के सञ्चालन में मुख्य भाग मेरुदण्ड के सुषुम्ना केन्द्र का ही है। नाभि की सीध में विद्यमान इस केन्द्र के द्वारा ही उनमें अपेक्षित क्रिया सम्भव है।

डॉक्टर हेनरी आस्ले नामक एक विशेषज्ञ ने अपनी 'नोट्स ऑन फिजियोलॉजी' नामक पुस्तक में इस विषय में मत व्यक्त किया है कि स्त्री-पुरुषों के प्रजनन अङ्गों की सङ्कोचन क्रिया और उत्तेजना में मेरु दण्ड के निचले क्षेत्र में विद्यमान केन्द्र ही जुम्मेदार है। इससे समझा जा सकता है कि कामोत्तेजना प्रकट करने का एकमात्र अङ्ग जननेन्द्रिय ही है। तथा सुषुम्ना में उसका उद्भव होना इस तथ्य को प्रकट करता है कि कामोत्तेजना कुण्डलिनी शक्ति की एक तरङ्ग मात्र है। सामान्य स्थिति में उसके प्रवाह की गति नीचे की ओर रहती है। इसीलिए मनुष्य अपनी शक्ति को गँवाता रहता है काम वासना के भोग द्वारा।

किन्तु विवेकी जन अपनी साधना के द्वारा उसके प्रवाह को अधोगामी होने से रोकते और ऊर्ध्वगामी बनाने का प्रयत्न करते हैं और यदि वे उसमें सफल हो जाते हैं तो शक्ति क्षरण की सम्भावनाओं से बच जाते हैं। काली कुलामृत नामक तन्त्र शास्त्र में कहा है—

तत्र स्थितो महालिङ्ग स्वयंभूः सर्वदा सुखी।
अधोमुखः क्रियावांश्च कामबीजेन चालितः॥

अर्थात्—वहाँ (ब्रह्मरन्ध्र) में सदैव सुख रूप, स्वयंभू महालिङ्ग विद्यमान है, जिसका मुख नीचे की ओर है। काम बीज से चालित होने वाला यह महालिङ्ग निरन्तर क्रियाशील रहता है।

नेपोलियन हिल नामक विद्वान् अपनी 'थिंक एण्ड ग्रो रिच' नामक पुस्तक में कामशक्ति, का जो विवेचन किया है उससे उक्त मान्यता की

पुष्टि होती है कि वह सेक्स-ऊर्जा मस्तिष्क और शरीर दोनों को ही समान रूप से प्रभावित करने वाली और प्रगति की दिशा में अग्रसर करने वाली एक विशेष शक्ति है।

परन्तु हम नहीं समझ पाते कि कुण्डलिनी शक्ति के उस स्थूल स्फुरण को सूक्ष्म रूप में किस प्रकार बदल सकते हैं। वस्तुतः यह एक ऐसा रहस्य है जो प्रत्येक व्यक्ति की समझ में सहज रूप से आ ही नहीं सकता। यही कारण है कि वह स्थूल स्फुरण कामेन्द्रिय का मनोरञ्जन मात्र बना रहता है। यदि हम उस क्षुद्र मनोरञ्जन से ऊपर उठ कर विचार करें तो उसके अभूतपूर्व अद्भुत परिणाम सामने आ सकते हैं।

कामोपभोग वस्तुतः एक अनिवार्य आवश्यकता है शरीर की। उसे दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता। जो लोग ब्रह्मचर्य पालन का व्रत लेकर उसका दमन करते हैं, उनके विषय में तो कुछ नहीं कह सकते, किन्तु जो गृहस्थ में रहकर उसका दमन करना चाहें, उन्हें उससे हानि भी हो सकती है।

प्रकृति के नियम संसार के समस्त प्राणियों के लिए हितकर है। उनका पालन न किया जाना अपने अनुकूल नहीं रह सकता। यह भौतिक भूख ही आध्यात्मिक बन जाती है। उसे भौतिक पक्ष में भी नकारना हानिकारक होता है, क्योंकि दमन करने से शरीरस्थ धातुएँ उसकी आग में क्रमशः जलने लगती हैं। कात्यायन स्मृति में कथन मिलता है—

यत्तद् गुह्यमिति प्रोक्तं देवयोनिस्तु सोच्यते।
अस्यां यो जायते वह्निः स कल्याण प्रदुच्यते॥

अर्थात्—यह गुह्य संज्ञक स्थान ही देवयोनि कहा जाता है, उसमें जो अग्नि उत्पन्न होती है, वह कल्याणमयी कही जाती है।

जननेन्द्रिय का स्थान अग्निकुण्ड है, उस अग्निकुण्ड में होता हुआ विंदु लौकिक पक्ष में भी सन्तानोत्पादन कार्य में सहायक होता है। यदि उसका व्यर्थ क्षरण किया जाय तो हानिकारक होगा ही, उसका दमन भी उतना ही हानिकारक है।

काम शक्ति दमन करने की अपेक्षा उसे भौतिक पक्ष से मोड़कर अध्यात्म पक्ष में अग्रसर कर सकते हैं। इसके लिए अनेक प्रकार के यौगिक साधनों का निर्देश मिलता है। यदि हम त्राटक योग का अभ्यास करें तो कामशक्ति के प्रवाह को निश्चय ही ऊर्ध्वगामी बनाने में सफल हो सकते हैं।

— —

प्रेम, वासना नहीं, अमृत, सत्य और परमात्मा है

प्रेम की तस्वीर

'प्रेम' शब्द यद्यपि दो अक्षरों से बना है, किन्तु है इतना व्यापक कि कोई अन्य शब्द इसका सामना नहीं कर सकता। यहाँ तक कि 'राम' शब्द भी नहीं। क्योंकि जहाँ राम का प्रश्न है, वहाँ भक्तों का कहना है कि वे भी प्रेम के बन्धन में बँधे हुए हैं।

अनुमान कीजिए उस वस्तु के विषय में जिसने भगवान् को भी अपने बन्धन में बाँध लिया, वह कितनी शक्तिशाली होगी। भगवान्

अधिक शक्तिशाली कोई नहीं, किन्तु प्रेम अपनी शक्ति में उनसे भी आगे बढ़ गया।

किन्तु प्रेम है क्या वस्तु? इसे आज तक कोई भी ठीक प्रकार से नहीं बता सका। लोक में कहा जाता है कि उन भाई-भाईयों में बड़ा प्रेम है, उन मित्र-मित्रों में बड़ा प्रेम है, माता पिता का अपनी सन्तान से प्रेम है तो पति का पत्नी से अथवा पत्नी का पति से प्रेम है।

इस प्रकार विभिन्न सम्बन्धों में प्रेम का होना कह दिया जाता है। किन्तु कहने वाले भी नहीं जानते कि हमने जिस क्रिया को प्रेम कहा है, वह है क्या? न कोई प्रेमी बता सकता है इसका अर्थ और न कोई भक्त ही। सभी अपने अपने ढङ्ग पर उसका अभिप्राय लगा लेते हैं और उस अभिप्राय में जितनी भ्रान्ति भरी है, वह प्रेम के विभिन्न रूप प्रकट कर देती है।

प्रेम का अर्थ मनुष्य ने या तो समझा ही नहीं और यदि समझा भी हो तो वह सत्य नहीं है। उसमें जो कुछ भी है, वह स्वीकारने के योग्य शायद ही हो। क्योंकि हम देखते हैं प्रत्यक्ष किसी एक चटोरे व्यक्ति को जो कहता है कि 'मैं मिठाई से प्रेम करता हूं' दूसरा कहता है कि 'मैं नमकीन से प्रेम करता हूँ' तीसरा कहता है कि 'मेरा प्रेम तो टिकिया-पकौड़ी से है, उसके सामने मुझे कुछ भी अच्छा नहीं लगता।'

इस प्रकार की बातों से लगा कि प्रेम मिठाई में है, नमकीन में है, टिकिया-पकौड़ी में है। लोगों ने प्रेम को कितना नीचा उतार दिया है। किसी बिल्ली से पूछो कि तुझे मालूम है ' प्रेम क्या है? वह कहेगी मालूम है—प्रेम उस कटोरे के आस-पास घूम रहा है, जिसमें दूध रखा है। अथवा उस चूहे के पास है प्रेम, जो अनाज के पात्र को कुतरने में लगा है।'

परन्तु मनुष्य ? उसने प्रेम की तस्वीर ही बदल दी है। उसने कालिख पोत दी है प्रेम के मुख पर, किन्तु प्रेम है कि सब कुछ सहन करता जा रहा है। उसमें जो रस था, मनुष्य ने उसी में विष घोल डाला और इसीलिए प्रेम, जो अमृत था आज विषैला बन गया है।

हमने उस बीज में जहरीली खाद दे दी है, जो पहिले अमर फल प्रदान करता था। आज उस बीज से जो वृक्ष उत्पन्न होता है, उस पर जहरीले फल आते हैं। इसका उत्तरदायित्व किस पर है ? मनुष्य पर अथवा किसी और पर।

इसका यह भी अर्थ हुआ कि मनुष्य उसके विषय में अभी अनजान बना हुआ है। उसके लिए आवश्यक है कि प्रेम का सही अर्थ जानने के लिए उसकी खोज में लग जाय। विद्वान् कहते हैं कि प्रेम सभी शरीर धारियों के पास सी प्रकार से विद्यमान है जैसे आत्मा रूप से परमात्मा। उसे खोजने के लिए कहीं अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह हृदय में जड़ जमाए हुए हैं।

आश्चर्य करते हैं लोग कि जो वस्तु हमारे हृदय में है, उसे भी हम जान क्यों नहीं पाते ? वह प्रकट क्यों नहीं होता ? ऐसी कौन सी बाधा है जो हमारी ही अभिन्न वस्तु को हमसे पृथक् किए हुए है ?

वस्तुतः भ्रान्ति के आवरण ने उसे छिपा लिया है। हम कुछ ओढ़ लेते हैं तो उसमें स्वयं छिप जाते हैं, हमारा अङ्ग-अङ्ग छिप जाता है। उस ओढ़े हुए के कारण यह भी प्रतीत नहीं होता कि हमारे शरीर में कहाँ, किस स्थान पर कोई दाग है, कोई फुंसी है' कोई व्रण है और वह दाग, फुंसी या व्रण अपना स्थायित्व जमाता जा रहा है, अचल या अटल होता जा रहा है। यदि हम उसे देखना चाहते हैं तो ओढ़े

[कपड़]ए को उतारना होगा और जानना होगा कि उस दाग, फुंसी आदि का [स्]वरूप क्या है ?

प्रेम सभी प्राणियों के भीतर है, मनुष्य में भी उसकी मात्रा कम [न]हीं है। उत्पन्न करने के लिए कोई प्रयत्न नहीं करना है। प्रयत्न [क]रना है तो उसे प्रकट करने का, उसे अनावृत करने का। प्रेम [तु]ममें छिपा है, उसे उजागर करो। छिपी हुई वस्तु व्यर्थ रह जाती है, किसी काम में नहीं आती। काम में वही आती है जो सामने हो, जो [प्र]कट हो।

प्रेम क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर स्वयं आपके पास है। उस उत्तर को अपने में ही ढूँढ़ो, उसकी खोज करनी हो तो पहिले अपने ही स्वभाव की टटोल करो निश्चय ही तुम्हारा स्वभाव प्रेम से ओत-प्रोत है, जीवन में जो सत्य, शिव और सुन्दर है, वही प्रेम है, वह निश्चय ही तुम्हारे स्वभाव में हैं। जो लोग प्रेम को सत्य, शिव और सुन्दर नहीं मानते, वे स्वयं को तो धोखा देते ही हैं, तुम्हें भी धोखे में रख रहे हैं।

किसी एक बात को हजार बार कहा जाय तो उस पर विश्वास [ह]ोगा ही। लोगों ने हजारों बार प्रेम के विकृत उदाहरण प्रस्तुत किए [है], इसलिए प्रेम घृणास्पद लगने लगा है। लोगों ने प्रेम का प्रयोग जहाँ [अ]पना स्वार्थ देखा, वहीं किया है, इसलिए उसकी सत्यता सन्देहास्पद बन [ग]ई है।

प्रेम अमृत है

प्रेम अमृत है, वह सभी को जीवन देता है। जो प्रेम करता है [औ]र जिससे प्रेम किया जाता है, उन दोनों की ही जीवन धारा बदल [जा]ती है। वे दोनों ही उपकृत हो जाते हैं। प्रेम की निर्मल गङ्गा [में] जो स्नान करता है, वह अवश्य ही पवित्र हो जाता है। वह अवश्य सत्य से ओत-प्रोत हो जाता है।

और प्रेम जब से काम-वासना की विकृति से जोड़ा गया, तब से उसकी स्वच्छता नष्ट हो गई, उसमें बरसाती बाढ़ के समान गँदलापन आ गया। उसी समय से उसमें विषैली प्रतिक्रिया उत्पन्न हो गई। गङ्गा की धारा में जब मल-मूत्र के नाले आकर मिल जाते हैं तब उसके अमृत गुण में कमी हो जाती है और उसकी कीटाणुओं को नष्ट करने वाली शक्ति में ह्रास उत्पन्न हो जाता है।

विकृत वासना वाले मन में जहर भर जाता है। किन्तु जहर के भी अनेक रूप हैं—एक तो वह जो जुबान पर रखते ही प्राणों का हरण कर लेता है। एक वह जो कुछ देर में मारता है और एक वह धीरे-धीरे विपरीत प्रभाव उत्पन्न करता है, जिससे पता ही नहीं चलता कि मारक स्थिति बनती जा रही है। पता तब चलता है उस जहर का जब वह प्राणान्त कर डालता है।

यही हाल विकृत वासना वाले मन का है। उसमें प्रेम उसी प्रकार अपाक्त हो जाता है, जैसे किसी स्वादिष्ट पदार्थ में विष मिला दिया जाय। विकृत वासना ने प्रेम का रूपान्तरण कर दिया, इस प्रकार कि वह उपलब्धि की अपेक्षा पतन की ओर उन्मुख कर दे।

परन्तु, प्रेम फिर भी घृणा के योग्य नहीं। दूषित प्रेम भी स्वच्छ हो सकता है। उसकी कल्याणकारी स्थिति को बदला जा सकता है कल्याणकारी स्थिति के रूप में। उसमें जो असुन्दरता आ गई है, उसे सुन्दरता में परिवर्तित किया जा सकता है।

अब प्रश्न है कि यह हो कैसे? उसका रूपान्तरण किया जाय तो किस प्रकार? रासायनिक पदार्थों का रूप बदलने में किसी विशेष प्रक्रिया से काम लेना पड़ता है। इसलिए काम-वासना को प्रेममय बनाने, आसक्ति को प्रेम के रूप में परिवर्तित करने के लिए कोई प्रक्रिया होनी चाहिए।

ऐसा नहीं कि मनुष्य निश्चन्त रहा हो इस ओर से और उसने कभी कोई प्रयास ही न किया हो। लाखों वर्षों से चले आ रहे योग-साधन मनुष्य की सतर्कता के ही प्रमाण हैं। योग इस खतरे को पहिले से ही जान चुका है और उसने इसके लिए प्रयत्न भी कुछ कम नहीं किये हैं।

परन्तु मनुष्य है कि वह उन उपायों को जानकर भी कुछ करना नहीं चाहता। सोचता है—'अब अवश्य करूँगा', किन्तु करता नहीं। फिर सोचता है 'कल से करूँगा' और वह कल भी टल गई। न जाने कितनी कल आईं और टलती गईं किन्तु मनुष्य है कि टस से मस भी न हुआ। न जानें कितनी बार प्रतिज्ञा लेता गया और भूलता गया, मानों प्रतिज्ञा लेना उसका जन्म सिद्ध अधिकार है और भूलना भी। क्योंकि उसके विचार में प्रतिज्ञा कोई ऐसी महत्वपूर्ण वस्तु नहीं जो भूली नही न जा सके।

धर्म के आडम्बर में ली गई सौगन्ध

प्रतिज्ञा का अर्थ है सौंगन्ध खाना। सौंगन्ध तो गाजर-मूली हो रही है आज-कल। गाजर-मूली फिर भी मँहगी हो गई हैं, किन्तु सौंगन्ध मँहगी नहीं हुई हैं। इसीलिए लोग समझते हैं कि जिसमें छदाम का भी खर्च नहीं, केवल जुबान हिलाने से ही काम बनता है तो चूका भी क्यों जाय ?

और इसीलिए सौंगन्ध खाने वाले मनुष्य से बढ़कर खतरनाक कोई दूसरा मनुष्य नहीं हो सकता। वह सौंगन्ध खाता है मानों एक बड़ी भारी शक्ति का आश्रय लेता है, सत्य का आश्रय लेता है और समझता है कि यह शक्ति और सत्य दोनों मेरे पक्ष में रहेंगे। जब शक्ति और सत्य दोनों को अपने मनोनुकुल बनाया जा सकता है, तब क्यो न उसका उपयोग किया जाय ?

उसके यह विचार उस समय तो अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न कर ही देते हैं। सौगन्ध खाने वाले को बात की भी अधिक चिन्ता नहीं रहती क्योंकि वह जानता है कि मेरे भीतर सौगन्ध से भी बढ़कर कोई अन्य विद्यमान है। किन्तु वह जो विद्यमान है वह बहुत गहरा बैठा हैं, इसलिए अपने विरुद्ध रहते हुए भी वह उस सौगन्ध का प्रतिरोध नहीं करेगा। क्यों ? क्योंकि मन के दो भाग प्रसिद्ध हैं चेतन और अचेतन। सौगन्ध खाने वाला मन चेतन है और जो भीतर गहरा बैठा है वह अचेतन। इसलिए चेतन की सौगन्ध अचेतन को प्रभावित नहीं कर सकती।

फिर, यदि वह सौगन्ध धर्म के आडम्बर में ली गई हो। क्योंकि धर्म का आडम्बर सभी कुछ ढक लेता है, वह किसी को उजागर नहीं रहने देता। सत्य, शिव और सुन्दर की त्रिपुटी भी छिपी रहती है उसमें। उस स्थिति में सौगन्ध भीतर से खोखली हो तो भी शक्तिशाली दिखाई देती है। उसका खोखलापन भी उसी आडम्बर में छपा रहता है।

धर्म का आडम्बर कुछ घना भी अधिक होता है। वह सौगन्ध को ही नहीं छिपाता, प्रेम को भी छिपा लेता है। प्रत्यक्षदर्शी जानते हैं कि धर्म के आगे प्रेम का कोई महत्व नहीं समझा जाता, वरन् वहाँ प्रेम व्यर्थ है, उससे किसी प्रकार का लाभ दिखाई नहीं देता। यदि यह कहें कि धर्म के संसार में प्रेम एक कपोल कल्पना मात्र है तो कुछ अनुचित नहीं होगा। जो लोग प्रेम को जितना ही अधिक महत्व देते हैं, वह उनकी उतनी ही अधिक अयोग्यता समझी जा सकती है।

परन्तु वह धर्म परमात्मा से कितनी दूर होगा, जिसमें प्रेम को अयोग्यता समझा जाता हो। यह आवश्यक नहीं कि प्रेम परमात्मा से ही किया जाय, किसी से भी किया जा सकता है, किन्तु फलकारी तभी होगा, जब चर्मचक्षुओं से स्वार्थ का चश्मा उतार दिया जायगा।

प्रेम एक कुत्ते से भी कर सकते हो, पक्षी से भी, अथवा अपनी सन्तान, पत्नी, मित्र, परिचित आदि किसी से भी। मत सोचो कि जिससे प्रेम करते हो, उससे किसी प्रकार का लाभ होगा, मत सोचो कि जिससे प्रेम करते हो उसके लिए कुछ त्याग नहीं करना होगा। अपने लाभ की बात भूलकर और त्याग-भावना को दृष्टिगत रख कर जो प्रेम किया जाता है, वही प्रेम सत्य, शिव और सुन्दर हो सकता है।

प्रेम क्षुद्र से क्षुद्र व्यक्ति से करने पर भी अहितकर तो कभी हो ही नहीं सकता। वरन् उसे निरन्तर दृढ़ करते चलो तो तुम्हारा जीवन ही प्रेममय बन जायगा। किसी से भी प्रेम करो, वही एक दिन परमात्मा के पास पहुँचा देगा। यह मत समझो कि प्रेम किसी और से करते हैं तो परमात्मा की प्राप्ति कैसे होगी ? विश्वास करो कि परमात्मा सभी प्राणियों में विद्यमान है और तुम जिस किसी प्राणी से प्रेम करते हो, वह परमात्मा से ही प्रेम किया जाता है।

इसी तथ्य के न समझने से प्रेम विकृत होता जा रहा है। इसी नासमझी ने सभी के दाम्पत्य जीवन में व्यवधान उपस्थित किया है। और दाम्पत्य जीवन में उपस्थित व्यवधान ही प्रेम को नष्ट करने में एक मात्र कारण सिद्ध हुआ है। इसलिए प्रेम के मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर करना अपेक्षित है। वे बाधाएँ जितनी ही अधिक हटाई जाएँगी, उतना ही अधिक उत्थान सम्भव होगा।

प्रेम को सुदृढ़ करो, परमात्मा तक पहुँचने का सरल मार्ग प्रेम ही है और वह यदि गृहस्थाश्रम में होकर ही गया है तो आकर्षक भी है। आप उस आकर्षण में खिचे जा सकते हैं निर्विघ्न रूप से। किन्तु उसके लिए सुदृढ़ होना होगा।

प्रेम में एक शक्ति और है—वह विचारहीनता का मुख्य साधन है। यदि मन किसी प्रकार निर्विचार अवस्था को प्राप्त हो जाय

तो ऐसा कोई कारण नहीं कि परमात्मा तक पहुँचने में सफलता न मिल सके।

गृहस्थाश्रम और उसके चार सूत्र

गृहस्थाश्रम की रीढ़ हैं पति-पत्नी। पति-पत्नी अर्थात् पुरुष और स्त्री। उनका पारस्परिक प्रेम यदि सुदृढ़ हो तो उसी के द्वारा परमात्मा को प्राप्त किया जा सकता है। क्योंकि परमात्मा जिस प्रेम से मिलता है, वही प्रेम भक्ति का रूप ले सकता है, वही प्रेम योग का रूप ले सकता है और वही प्रेम माध्यम बनता है उपासना का। यदि उपासक प्रेमी हृदय न हो, उसकी उपासना वैसी ही है, जैसा कोई जल पात्र पानी के बिना किसी काम में नहीं आ सकता।

दाम्पत्य जीवन में उसके उपयोग की सहज प्रक्रिया भी है। दाम्पत्य धर्म का निर्वाह करते समय अर्थात् रति ड़ा के समय मनुष्य सच्चे प्रेम से काम ले तो उसे वही उपलब्धि हो सकती है जो कि किसी योगी को योगाभ्यास की सफलता होने पर किसी क्षण हो सकती है। क्योंकि उस समय पति-पत्नी दोनों ही निर्विचार समाधि की अवस्था प्राप्त कर लेते हैं।

किन्तु कामोपभोग के समय इस प्रकार की स्थिति तभी उत्पन्न होती है, जब काम-वासना को घृणित न होने दिया जाय, वरन् उसे पवित्र और दिव्य बनाया जाय। पवित्रता के बिना दिव्यता नहीं आ सकती आप जितने ही पवित्र हृदय से कामोपभोग करेंगे उतने ही अधिक काम की विकृत वासना से मुक्त होते चलेंगे। वस्तुतः प्रेम के मार्ग में यह सूत्र प्रथम सोपान का काम करता है। आप प्रेम-पर्वत के शिखर पर पहुँचना चाहते हैं तो सर्व प्रथम पवित्रता की सीढ़ी पर मजबूती से पाँव रखना होगा। यह प्रथम सीढ़ी ही आपकी काम-ऊर्जा को प्रेम के रूप में बदल देती है।

इस स्थिति के लिए जो दूसरी सीढ़ी है वह है अहङ्कार का नाश। मनुष्य ने अहङ्कार के वशीभूत होकर अपना ही पतन किया है। मनुष्य छाती ठोक कर कहता है कि इस कार्य का कर्ता मैं हूँ' अथवा 'यह कार्य मेरे बिना नहीं हो सकता' अथवा 'मैं इसे नष्ट करने में समर्थ हूँ' इत्यादि। किन्तु छाती ठोकने की अपेक्षा छाती पर हाथ रखकर शान्ति से विचार करो कि क्या तुम किसी कार्य के कर्त्ता हो ? क्या कोई कार्य तुम्हारे ही बल से सम्पन्न हो सकता है ? क्या तुम किसी वस्तु को नष्ट कर सकते हो ?

एक कहता है कि मैं अमुक व्यक्ति को मार डालूँगा। किन्तु वह यह नहीं समझता कि मारने वाला वही हो सकता है जो जन्म दे सकता हो। आज का मनुष्य तो इस सिद्धान्त का और भी दृढ़ता से पालन करने का आग्रह करता है कि न्यायालय को फाँसी देने का अधिकार नहीं रहना चाहिए। क्योंकि परमात्मा जन्म देता है तो मार भी वही सकता है।

और इस सिद्धांत ने मनुष्य के अहं पर अच्छी चोट की है। यह तर्क इस बात की घोषणा है कि मैं मैं नहीं हूँ, मनुष्य कर्ता नहीं, परमात्मा ही कर्ता हैं। वह जो कुछ करता है वह सब परमात्मा की ही प्रेरणा से।

यदि मनुष्य अहं को मिटा दे तो बहुत कुछ पा लेता है। प्रेम और अहङ्कार में तीन और छः का भेद है। जब तक अहङ्कार दूर नहीं होगा, प्रेम की भी प्राप्ति नहीं होगी। यदि मैं मर गया तो प्रेम जीवित हो गया और प्रेम जीवित हो गया तो परमात्मा की प्राप्ति हो गई। यह दूसरी सीढ़ी उस शिखर तक पहुँचने के लिए, जहाँ मनुष्य को अलौकिकता के दर्शन हो सकते हैं।

एक तीसरी सीढ़ी और है उस शिखर तक पहुँचने के मार्ग में। वह है क्रोध का त्याग। क्रोध रहता है तो न अहङ्कार को जाने देता है और

न पवित्रता को आने देता है। वह कलुषित कर देता है मन को उस सीमा तक, उस डिग्री तक, जिसमें पिघलकर पवित्रता की दीवार पानी की धारा के समान पतली हो जाय। क्रोधावेश में मनुष्य स्वयं ही उन्मत्त हो जाता है। किन्तु अपनी उन्मत्तता को न समझकर प्रेम को ही पागलपन समझने लगता है।

क्रोध एक ऐसी व्याधि है जो मनुष्य का मानसिक सन्तुलन खो देती और मोह को उत्पन्न कर देती हैं। आप क्रोध करते हैं तो मोह को पहिले आमन्त्रण दे देते हैं। उस समय आपको यह भी होश नहीं रह सकता कि उस क्रोध का कारण क्या है? उसने इतना भीषण रूप क्यों धारण कर लिया हैं?

जब क्रोध का विपरीत परिणाम सामने आता है, तभी आप समझने का प्रयत्न करते हैं कि इतनी उत्तेजना अकस्मात् उत्पन्न कैसे हो गई? किन्तु बहुत बार न उसकी याद आती है, न समझ ही।

और वह क्रोध यदि संसर्ग के समय अपना रङ्ग जमा देता हैं, तब क्या अवस्था होती है उसकी? क्रोध आता है, मन डूब जाता है और प्रेम भी चला जाता है। उस समय स्त्री का रूप भी अनुकूल दिखाई नहीं देता। लगता है कोई ऐसी स्त्री सामने है जो मन को जगाती नहीं डुबा देती है।

किन्तु इतना ही नहीं होता क्रोध से, वह कभी-कभी हिंसा का माध्यम भी बन जाता है। उस क्रोध का कारण होती है वह काम-वासना, जिसका झुकाव पतन की ओर होता है, उत्थान की ओर नहीं। यदि काम-वासना पतनोन्मुखी हो जाय तो वह कितनी घातक सिद्ध हो सकती है, इसका अनुमान कोई भुक्तभोगी ही ठीक प्रकार से लगा सकता है।

कृष्ण कहते हैं 'काम एप क्रोध एप रजोगुण समुद्भवः' अर्थात् 'रजोगुण से उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है।' किन्तु जब यही

काम सतोगुण में स्थित रहता है तब क्रोध की उत्पत्ति करने वाला नहीं होता। सतोगुणी काम प्रेम को व्यक्त करने वाला होने के कारण प्रेम रूप हो जाता है।

इसलिए जो लोग गृहस्थाश्रम में रहकर ही परमात्मा को प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें इस अक्रोध रूपी तीसरी सोपान पर चढ़ना होगा। क्रोध न होगा तो मोहादि विकृतियाँ भी न रहेंगी। मन के स्वच्छ, पवित्र होने के कारण उसमें प्रेम रस की सरिता लहराने लगेगी।

इन तीन सीढ़ियों के अतिरिक्त एक अन्य सीढ़ी भी है इस मार्ग में। यदि उस सीढ़ी पर न चढ़ सके तो बीच में ही लटक जाना होगा। जो मनुष्य ऊपर चढ़ता है वह स्वेच्छा से नीचे नहीं उतरना चाहता है। किन्तु जो चौथी सीढ़ी पर न चढ़ सका वह परमात्मा तक तो पहुँच नहीं सकता, उस स्थिति में जहाँ तक पहुँचेगा वहीं रह जाएगा या फिर कोई चारा न देखेगा तो नीचे ही उतरेगा बेचारा।

वह चौथी सीढ़ी है शङ्का-रहितता। परमात्मा के मार्ग में शङ्का रहने पर लक्ष्य पर पहुँचना असम्भव ही है। विद्वान् कहते हैं 'संशयात्मा विनश्यति' अर्थात् 'जिसमें संशय है, वह नाश को प्राप्त हो जाता है।'

इन सूत्रों का पालन हजारों वर्ष से होता चला आ रहा है। परमात्म मार्ग की यह कोई आधुनिक नहीं है। किन्तु पुरानी होते हुए भी अनुभव की कसौटी पर कसी जाकर नई हो गई है। जब तक किसी वस्तु को ठीक प्रकार से जाँचा नहीं जाता तब तक उसके विषय में शङ्काएँ हो सकती हैं। किन्तु जो वस्तुएँ अनुभव की कसौटी पर खरी उतरती हैं, उसके विषय में शङ्का के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता है।

तो हमने आपको चार सीढ़ियाँ बताईं उन्नति के शिखर पर पहुँचने की। उस शिखर पर पहुँचने की जिस पर एक मन्दिर है और उसमें प्रेम का देवता विराजमान है। एक सीढ़ी है पवित्रता की, दूसरी है अहं-त्याग की, तीसरी है अक्रोध की और चौथी है अशंका की। यह चार चार सीढ़ियाँ, गिनती में तो चार ही है, किन्तु हैं बड़ी ऊँची-ऊचीं उन पर चढ़ने के लिये अभ्यास का सम्बल चाहिये, उस अभ्यास का जो प्रेम के द्वारा साध्य हो जो अभ्यास प्रेम के विना भी साध्य हो सकता हो, वह इस मार्ग में काम नहीं दे सकता।

प्रेम योग का संयोग

इसलिए अनेक योगियों ने प्रेम को भी योग की परिधि में ले लिया है। कुछ योगियों ने तो प्रेम को स्वतन्त्र रूप से एक योग की ही संज्ञा दी है। उसका मुख्य कारण है और वह स्पष्ट है कि जप, तप, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, संन्यास अथवा योग कोई भी पद्धति हो, सभी में प्रेम आवश्यक है। प्रेम के विना न जप हो सकता है, न तपस्या, भक्ति का तो पर्याय ही माना जाता है प्रेम, ज्ञान वैराग्य, संन्यास का एक मात्र उद्देश्य परमात्मा की प्राप्ति है। किन्तु प्रेम-रहित ज्ञान के द्वारा परमात्मा की प्राप्ति ही असम्भव है। वैराग्य और संन्यास की स्थिति में भी यदि प्रेम न हो साधक के हृदय में तो उसके उद्देश्य की पूर्ति किसी भी प्रकार नहीं हो सकती।

प्रेम समस्त क्रिया कलापों में अपना महत्वपूर्ण अस्तित्व रखता है। कामशक्ति के रूपान्तरण में भी प्रेम ही ऐसा ठोस साधन हो सकता है जो विना किसी बाधा के प्रयोग में लाया जा सकता है। जो लोग काम को आवश्यक मानते हैं और जो लोग काम को अश्लील कह कर उसे तिरस्कृत करते हैं, दोनों के लिए ही प्रेम एक सबल प्रक्रिया हो सकती है।

काम-वासना आवश्यक है, स्वाभाविक है, किन्तु तभी जब उसमें पवित्रता हो, जब उसमें संयम हो, प्रेम हो। अपवित्र असंयमित या प्रेम-रहित काम-वासना न तो आवश्यक हो सकती है, न उपयोगी ही। प्रेम के द्वारा हम उसे सहज, सुंदर और सरल बना सकते हैं।

काम धर्म है गृहस्थ जीवन का, उसके बिना दाम्पत्य जीवन निरर्थक है। किन्तु काम-धर्म के निर्वाहार्थ प्रेम से सहयोग लेना आवश्यक है। यदि प्रेम उसमें सहयोगी नहीं होता तो वही धर्म अधर्म बन जाता उस स्थिति में काम-वासना का रूपान्तरण और विकास नहीं होता, वरन् धर्म का ही रूपान्तरण हो जाता है अधर्म के रूप में।

काम-वासना को अश्लील समझने वाले लोग भी यदि इस तथ्य को समझलें तो उसमें परिवर्तन का अनुभव स्वयं कर सकते हैं। जब काम-वासना धर्म है, सहज है तो अश्लील कैसे हो सकती है? निश्चय ही काम-वासना तब तक अश्लील नहीं है, जब तक उसका उपयोग किसी गलत ढग से न किया जाय। यदि वास्तविक प्रेम का आश्रय लिया जाता रहे उसके साथ तो हम उसे परमार्थ की दिशा में मोड़ सकते हैं।

प्रेम सत्य है परमात्मा है

परन्तु प्रेम किसी नियम विशेष में बंधा हुआ नहीं है। विद्वानों ने उसके स्वरूपकी कोई विवेचना भी नहीं की है और व उससे सम्बन्ध रखने वाला कोई शास्त्र ही रचा गया है आज तक। जो कुछ रचा है प्रेम से भिन्न है, प्रेम से विपरीत है। और जो कुछ कहा जाता है विपरीत ढंग से, वह भ्रान्ति में डाले बिना नही रहता।

लोग पूछ सकते हैं कि प्रेम क्या है? प्रेम के विषय में भ्रान्ति क्या है? तो उसका उत्तर यदि आप अपनी आत्मा से पूछें तो अच्छा हो। यदि सचमुच आत्मा से पूछेंगे तो आप समझलें कि प्रेम वही है जो सत्य है वह परमात्मा हैं। ईश्वरवादी मानते हैं। कि परमात्मा अविनाशी

है, क्योंकि वह सत्य है। जो सत्य है वह कभी मर नहीं सकता। यदि सत्य ही मर जाये तो फिर संसार में रहेगा ही क्या ?

सत्य अमर है तो प्रेम भी अमर है। जिसने प्रेम के ससार में जन्म में जन्म लिया, वह अमर हो गया। जिसने जीवन में प्रेम किया दूसरों से, वह सभी कुछ पा गया जिसे चाहता था।

परन्तु जहाँ सत्य नहीं, वहाँ प्रेम की आशा भी व्यर्थ है। प्रेम करना चाहते हो तो पहिले सत्य को धारण करो अपने हृदय में। यदि प्रेमी बनवा चाहते हो तो पहिले सदाचारी बनो। प्रेम और सत्य का इतना अभिन्न सम्बन्ध है कि सत्य की कामना वाले को पहिले प्रेम का आश्रय लेना होता है।

प्रेम नहीं कहता कि तुम्हें मेरा प्रयोग कहाँ करना है। वह कहता है कि जो कुछ करना चाहते हो मुझे साथ रखकर करो। यदि आपने प्रेम को साथ लेकर अपना कार्य आरम्भ किया तो सत्य में स्थित होने के कारण आप अपने उद्देश्य में सफल ही होते रहेंगे।

लोगों में जिज्ञासा हो सकती है कि प्रेम और सत्य दोनों को एक साथ मिलाकर किस प्रकार अपने अनुकुल बनाया जा सकता है ? यदि आप काम-रूपान्तर की प्रक्रिया अपनाते हुए प्रेम को सम्बल बनालें तो सत्य स्वतः ही आप से मिलने की प्रतीक्षा करेगा और फिर ऐसी कोई बाधा उपस्थित न रहेगी जो असत्य के पोषण में अपनी भूमिका अदा करती हो।

इसीलिए प्रेम-योग अभ्यासियों का मत है कि परमात्मा को प्राप्त करना है तो पहने प्रेम को प्राप्त करो। प्रेम को प्राप्तकर लिया तो धर्म और सत्य भी दूर नहीं रहेगा। प्रेममें प्रकृति ही कार्यरत नहीं है, परमात्मा भी उसी में लगा है। परमात्मा चाहता है कि प्रेममय होजाँय तथा प्रेम में ही जीवें और प्रेम में ही मरें।

कुछ लोग कहते हैं कि प्रेम की गहराई का पता तब चलता है

जब भीतर झाँकने का प्रयत्न किया जाता है। क्योंकि प्रेम का स्थान बहुत गहरा बन गया है वहाँ। यदि सामान्य रूप से कार्य सिद्धि नहीं होता तो उसकी परतों में घुसना पड़ेगा और गहरे ··· और गहरे।

जितने गहरे घुसेंगे, उतने ही स्पष्ट दर्शन होंगे प्रेम के। यदि प्रेम के दर्शन हो सके तो परमात्मा के दर्शन में भी अधिक कठिनाई नहीं होती। वह परिलक्षित हुआ प्रेम ही परमात्मा के दर्शन करा देता है

मानव जीवन में जितनी भी अनुभूतियाँ होती हैं, सभी काम की। हैं, वे काम की तो कोई भी अनुभूति नहीं हो सकती। बहुत बार अपने अतीत पर दृष्टि डालने से ही कुछ ऐसे दृश्य सुलझे हुए रूप में प्रत्यक्ष हो जाते हैं, जो न जाने कब से उलझे हुए दृश्य सहज में ही सुलझ जाते हैं।

जीवन के तीन सूत्र

एक महात्मा के मानव जीवन के लिए कुछ महत्वपूर्ण सूत्रों की चर्चा की थी। उन्होंने कहा था कि काम, प्रेम और सत्य यह तीन ही सूत्र हैं जो मनुष्य को देवता बना सकते हैं। यदि मनुष्य इन्हीं तीनों को याद रखे तो चौथे महापुरुषार्थ परमात्मा रूप मोक्ष को सहज में प्राप्त कर सकते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि काम की धार बड़ी पैनी है, वह यदि भड़क उठे तो फिर शेष नहीं छोड़ता अपने चंगुल में फँसे आदमी को। शायद आपने सुना हो कभी कि जो काम तलवार की धार से नहीं निकल सकता, वह काम की धार से सहज में ही निकल सकता है।

आज काम-वासना रुग्ण हो गई, उसे जो उपचार दिया गया, वह उसके अनुकूल नहीं है। किसी रोगी को कोई ऐसा उपचार दे दिया जाय तो उसके अनुकूल न हो तो उसकी बीमारी बढ़ सकती है। हमने सुना है कई बार—डाक्टर ने इंजेक्शन दिया किसी रोगी को और

इंजेक्शन क्या दिया कि उसके प्राण ही ले लिये। बाद में पता चला कि रोगी को कोई गलत इंजेक्शन दे दिया गया, जिससे वह पहुँच गया मौत के मुख में।

काम-वासना को भी ऐसे गलत इंजेक्शन दिये जा रहे हैं। एक ओर कहा जा रहा है कि उसका दमन करो और दूसरी ओर शृंगार रस के ढेर सारे ऐसे ग्रन्थ रच डाले हैं उन विद्वानों ने जो काम-वासना को रुग्ण बनाने में सहायक हो रहे हैं। और आश्चर्य की बात यह कि दोनों प्रकार के ग्रन्थों के रचयिता विद्वान ही हैं।

भर्तृहरि ने तीन शतकों की रचना की शृंगार, नीति और वैराग्य इन तीनों के मन्तव्यों में भिन्नता है। रम्भाशुक-संवाद के रचयिता ने रम्भा के वचनों में वह भर दिया है, जिसे अनुचित कह सकते हैं और शुकदेव के वचनों में भरी है वह प्रक्रिया जो काम-वासना को ही नहीं स्त्री मात्र को प्रताड़ित करती है।

यद्यपि यह सब रूपक मात्र है, किन्तु इसका अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ा है लोगों पर। वे भ्रमित हो रहे हैं, ऋषि-वाक्यों को सुन कर और प्रेम के स्वरूप निर्धारण में असमंजस्य के शिकार बन गये हैं।

हमें समझना होगा उस सब को और बढ़ना होगा प्रेम के सरल मार्गपर। प्रेम का मार्ग ही परमात्मा का मार्ग है, जिसमें वासना का रूपान्तरण सहज ही हो सकता है। योगाभ्यासी पुरुष जिस उपलब्धि के भागी अपनी उस साधना से होते हैं, वही उपलब्धि दाम्पत्य जीवन में प्राप्त की जा सकती है।

त्राटक का साधक काम-वासना के रूपान्तरण में और भी अधिक शीघ्र सफलता प्राप्त कर सकता है। क्योंकि वह प्रेम के रहस्य को समझकर उसी का अनुयायी बन जाता है।

आसक्ति-रहित भोग

मन और व्यापक क्षेत्र की अनुभूतियाँ

मन के दो मुख्य भेद चेतन और अचेतन के नाम से किए जाते हैं, इनमें प्रथम वाह्य और दूसरा आन्तरिक कहा जाता है। मनुष्य जब नींद में सोता है तब उसका चेतन मन भी सो जाता है। इसी प्रकार समाधि अवस्था में भी चेतन मन की क्रियाशीलता लुप्त प्रायः हो जाती है। किन्तु जाग्रत् अवस्था में चेतन मन ही शरीर का सर्वेसर्वा रहता है। किसी विषय को सोचना और उसके विषय में निर्णय लेना चेतन मन का ही मुख्य कार्य है। इसलिए इन्द्रियों के वासना पङ्क की ओर जाने या उन्हें उससे निकालने का कार्य भी चेतन मन के ही अधिकार क्षेत्र में आता है।

अचेतन मन का कार्य आन्तरिक अवयवों को अपने वश में रखना है। जब चेतन मन सो जाता है, तब यही जागता हुआ प्राणी के योग-क्षेम को देखता है। वस्तुतः उसकी पकड़ शरीर तक ही सीमित नहीं है, वह संसार के किसी भी भाग में चाहे जब पहुँच सकता है। त्रिलोकी के कोने-कोने से समाचार लाकर देने की सामर्थ्य इसी में है। यदि साधक उसे अधिक जाग्रत् रखने में सफल होता है तो वह उसके द्वारा भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालकी बात जान सकता है। ऋग्वेदमें कहाहै— 'यत् ते विश्वमिदं जगन्मनो जगाम् दूरकम् यत् ते पराः पारवतो मनो जगाम् दूरकम्।' अर्थात् यह मन संसारके एक कोने से दूसरे कोने तक क्षण भरमें पहुँच सकताहै। यह उक्ति आन्तरिक मनके विषयमें अधिक उपयुक्त है। माण्डूक्योपनिषद्में कहाहै—'स्वप्नस्थानोऽनन्तः प्रज्ञः सप्तांग एकोनविंशतिमुखः प्रविक्ति भुक्

तैजसो द्वितीयः पादः' अर्थात् 'जब मन स्वप्नावस्था को प्राप्त होता है, तब उसकी प्रज्ञा (बुद्धि) भी भीतर कार्य करने लगती है और उस अवस्था में वह ब्रह्म रूप हो जाता है। उस समय उसके सात अङ्ग (अर्थात् पञ्चतत्वों की सूक्ष्म अवस्थाओं वाला सूक्ष्म शरीर, अहङ्कार और महत्तत्व) तथा उन्नीस मुख (अर्थात् सात ज्ञानेन्द्रिय. सात कर्मेन्द्रिय और पाँच प्राण) भी उसी में लीन हो जाते हैं जिससे कि आत्मा शरीर के समान ही भोग करने लगता है। यह आत्मा का दूसरा पाद है।'

उक्त कथन से जाग्रत् और सुषुप्ति के मध्य की अन्तर्दशा (अर्थात् स्वप्नावस्था) का संकेत करते हुए अन्तर्मन की क्रियाशीलता और क्षमता पर युक्तियुक्त प्रकाश डाला गया है। इसके प्रभाव से अन्तर्मन के द्वारा अनेक सत्य बातों का भी ग्रहण हो सकता हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि जब मन सामान्य परिस्थितियों में निमग्न रहता हुआ इतना सङ्कीर्ण या स्थूल हो जाता है कि दूरस्थ घटनाओं की कल्पना भी नहीं कर सकता। परन्तु जाग्रत् और सुषुप्ति के मध्य की अवस्था को प्राप्त होता है, तब इन्द्रियादि के विषय उसके आत्मभूत रहते हैं। उस स्थिति में चाहे अधिकांश समय तक मन की कल्पनाएँ ही प्रमुख क्यों न रहती हों, किन्तु उसी मध्य यदि वह किसी प्रकार आत्मा की 'फ्रीक्वेन्सी' पर पहुँच जाय तो उसे व्यापक क्षेत्र की अनुभूतियाँ प्राप्त हो सकती हैं।

स्वप्नावस्था और समाधि की अवस्था

जैसे स्वप्नावस्था जाग्रत् और सुषुप्ति के मध्य की अवस्था कही जाती है, वैसे ही यदि समाधि के स्वरूप पर विचार करें तो प्रतीत होगा कि उसमें भी न जाग्रति है, न सुषुप्ति ही। बहुत बार मनुष्य जागते हुए भी जरा-सी झपकी आने पर स्वप्न देखने लगता है, उस

समय उसका चेतन मन भी अपनी क्रियाशीलता छोड़ देता है समाधि अवस्था में साधक की भी वही स्थिति होती है। अन्तर इतना रहता है कि स्वप्न में अचेतन मन दिखाई देने वाले दृश्यों को समेट कर साकार करता है, जबकि समाधि की अवस्था में आत्मा की फ्रीक्वेन्सीं पर पहुँचने का प्रयत्न करता है।

अनेक बार अन्तर्मन की सबलता मनुष्य को जो स्वप्न दिखाती है, वे सत्य सिद्ध होतेहैं। उसका कारण यहहै कि उस समय आत्मा की समीपस्थ सुषुम्ना में मन की किसी प्रकार पहुँच हो जाती है। उसकी यही अवस्था जब समाधि में होती है तभी साधक को आत्मानुभूति का लाभ हो पाता है।

शरीरस्थ नाड़ियाँ और सुषुम्ना का रहस्य

मानव शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियों का जाल बिछा है। उन्हीं के द्वारा विभिन्न अवयवों का पोषण होता है किन्तु उन समस्त नाड़ियों इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना ही प्रमुख हैं। प्राणायाम-साधना में इन्हीं तीन नाड़ियों का महत्वपूर्ण योगदान रहता है।

इन तीन नाड़ियों में भी सुषुम्ना अधिक महत्वपूर्ण है। अध्यात्म विद्या में भी इसे सर्वाधिक प्रभावशाली समझा जाता है। यह नाड़ी प्रकाशमयी मानी जाती है। इसमें आकाश के समान पोल होती है। विद्वानों ने इसी नाड़ी को सूर्यात्मक आकाश और ब्रह्माण्ड के रहस्य से मन का सम्बन्ध जोड़ने तथा उसे (मन की) व्यापक बनाने वाली माना है।

यदि मन उस सुषुम्ना में प्रवाहित होता है। तब दिव्य स्वप्न दिखाई दे सकते हैं। उस समय हमारी चेतना विराट् क्षेत्र में तैरती है, इसीलिए उस समय नगर, दुर्ग, पर्वत, वन, उपवन,

नदी, अन्तरिक्ष अथवा अन्यान्य दिव्य आकृतियाँ दिखाई देने लगती हैं।

किन्तु समाधि अवस्था में अन्तर्मन विराट् क्षेत्र के अतिरिक्त आत्मा से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए भी चेष्टावान रहता है। उस समय उसकी पहुँच सुषुम्ना में जितनी गहरी होगी, उतनी ही आत्मानुभूति भी अधिक होगी। इस प्रकार सुषुम्ना में मन का जितना अधिक प्रवाह होगा। उतना ही अधिक सत्य और दिव्यता के निकट होगा। उसी अवस्था में वह सत्–चित्–आनन्द की अनुभूति करने में समर्थ हो सकेगा।

अभिप्राय यह है कि जब मन मस्तिष्क का अनुवर्ती न रहकर सुषुम्ना का अनुवर्ती हो जाता है, तब उसकी स्थूलता नष्ट हो जाती है। उसकी वही स्थिति अध्यात्म पक्ष में उपयोगी होती है, क्योंकि वैसी स्थिति में ही वह सूक्ष्मता को प्राप्त हो पाता है।

इच्छाओं का कम्पन

मन जब इच्छाओं के प्रभाव में रहता है, तभी उसमें चञ्चलता रहती है। क्योंकि इच्छाओं में कम्पनों की उपस्थिति रहती है। वे कम्पन वासना के अनुसार ही होते हैं। पाश्चात्य भाषा में कम्पन को 'विब्रेशन' कहते हैं। विब्रेशन या कम्पन की यह क्रिया प्रकृति की प्रत्येक अदृश्य वस्तु में विद्यमान रहती है।

प्रकाश, वायु, ध्वनि, उष्णता, शीतलता आदि सभी में कम्पन की विद्यमानता है। इसी प्रकार मनुष्यों की इच्छाओं में भी कम्पन रहते हैं। यह अवश्य है कि उन कम्पनों में समानता नहीं होती क्योंकि जैसी वासना, वैसा कम्पन।

दीपक की लौ को काँपती हुई प्रत्यक्ष देखते हैं, वह कभी तीव्र होती है, कभी मद्धिम। उसमें निरन्तर प्रतीत होता है कि कुछ

चल रहा हो। इसी प्रकार सूर्य की किरणों में भी हल–चल दिखाई देती है।

ध्वनि में जो उतार चढ़ाव दिखाई देता है, वह उसके कम्पन के कारण ही है। रेडियो, टेलीविजन या इसी प्रकार के अन्यान्य यन्त्रों का आधार कम्पन ही है। कोई किसी को आवाज दे तो वह आवाज जितनी जोर की होगी, कम्पन भी उतना ही अधिक होगा। कान उस आवाज को कम्पनों के द्वारा ही यथार्थ रूप में ग्रहण करते और यह अनुभव कराते हैं कि बोलने वाले की आवाज मन्द है अथवा तीव्र।

उष्णता और शीतलता में भी न्यूनता और तीव्रता प्रत्यक्ष रूप से दिखाई देती है। इनमें जितनी ही अधिक तीव्रता होगी कम्पन भी उतने ही अधिक तीव्र होंगे। इसी प्रकार अन्यान्य वस्तुओं के विषय में भी समझना चाहिए।

इससे यह अनुमान सहज में ही लगाया जा सकता है कि जैसी तीव्रता होगी, वैसा ही कम्पन होगा और कम्पन में जैसी प्रवलता होगी, प्रभाव भी उसी के अनुसार पड़ेगा। इसी प्रकार इच्छाओं में भी जिस वासना का जैसा प्रावल्य होगा, सम्बन्धित व्यक्ति पर उतना ही गहरा प्रभाव पड़ेगा। यही कारण है कि मन की दौड़ वासना के ही अनुरूप रहती है और मस्तिष्क भी उसी प्रकार की इच्छा तरङ्गों से प्रभावित रहता है।

मनुष्य की प्रमुख लौकिक वासना

ससार में अनेक प्रकार की वासनाएँ हैं—धन, स्त्री, पुत्र, यश, विजय, पद आदि। प्राचीन मुनियों ने भी पुरुषार्थ के रूप में वासनाओं को चार मुख्य रूपों में विभाजित किया है—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। उनके उस विभाजन का अभिप्राय चाहे कुछ भी रहा हो, किन्तु उसमें

काम की ही प्रमुखता पाई जाती है। आप जब अपने मन को टटोलेंगे तो यह तथ्य प्रत्यक्ष हो जायगा कि सभी प्रकार की वासनाओं की जड़ स्त्री है और उससे सम्बन्धित वासना है—कामवासना।

मनुष्य ही क्या, संसार के समस्त प्राणी काम-वासना में ही डूबे हुए हैं। वस्तुत: जिसे काल चक्र कहा गया है उसे यदि काम चक्र कहें तो भी अत्युक्ति नहीं होगी। क्योंकि प्राणियों का जन्म काम-वासना से हुआ, उसी वासना के निखरे हुए रूप के वशवर्ती हुए माता-पिता बालकों का पालन करते हैं। फिर जब बालक वयस्कता को प्राप्त होता है तब वह स्वयं भी काम—वासना की ओर ही आकर्षित होता है।

समूची युवावस्था इसी वासना में व्यतीत होती है। प्रौढ़ावस्था में तो क्या, बुढ़ापे में भी मनुष्य उसे छोड़ना नहीं चाहता, चाहे वह इन्द्रिय से अशक्त ही क्यों न हो गया हो। धन, धर्म और यश की वासनाएँ तो काम—वासना के समक्ष गौण ही रह जाती है।

पुराण और इतिहास भी इसी वासना से भरे पड़े हैं। संसार में जितने युद्ध हुए उन सबमें अधिकांश इसी वासना के फेर में हुए। दूसरी वासनाएँ तो उस मुख्य वासना को आवरित करने में आवरण मात्र ही हैं।

परन्तु क्यों है ऐसा? मनुष्य उस मुख्य वासना को आवरित करके क्यों भोगना चाहता है? यदि आप किसी भी विद्वान् से पूछें तो वह उसका उत्तर नहीं देगा। दे भी कहाँ से? उसे उसका उत्तर नहीं देगा। दे भी कहाँ से? उसे उसका उत्तर स्वयं ही नहीं मालूम और न यह आवश्यक ही है कि सभी बातों का उत्तर सभी विद्वानों को मालुम हो।

संसार में बहुत से अभूतपूर्व कार्य देखे जाते हैं, ऐसे अभूतपूर्व जिन्हें देखकर आश्चर्य होता है। वैज्ञानिक कहते हैं कि उस अभूतपूर्व कार्यों के विषय में हम जानते हैं, क्योंकि हमने उनका विश्लेपण

किया है। सभी वैज्ञानिक कहते हैं कि ऑक्सीजन और हाइड्रोजन के मिलने पर पानी बन जाता है। किन्तु यह कोई नहीं बताता कि क्यों बन जाता है पानी ?

प्रकृति ने प्रत्येक जीव-जाति में नर और मादा के दो भेद किए, किन्तु क्यों किए यह दो भेद ? इसका उत्तर बहुत कुछ हुआ तो यह दे दिया कि सर्ग रचना के लिए। परन्तु इसका उत्तर किसी के पास नहीं है कि प्रकृति ने ऐसी व्यवस्था क्यों नहीं कर दी कि एक ही रूप में रहकर मनुष्य अपने शुक्र आदि के द्वारा सन्तान उत्पन्न कर सकता, जैसे कि कुछ कीड़े कर लेते हैं। यदि ऐसा हुआ होता तो काम-वासना का नाम भी कोष में देखने को नहीं मिलता।

अब दूसरे पक्ष पर विचार कीजिए—संसार में जीवन है, जो कुछ भी गतिवान, परिवर्तन–परिवर्द्धन शील है, उस सब में जीवन है। सभी चाहते हैं कि वह जीवन सदा बना रहे। मनुष्य तो क्या, नरक का दुःख उठाने वाले कीड़े भी नहीं चाहते कि उनका जीवन समाप्त हो जाय। किसी भी जीव को मारने का प्रयत्न करके देखिए, वह अपने प्राण बचाने के प्रयत्न में लग जायगा।

किन्तु पूछिए किसी भी वैज्ञानिक से कि प्राणी जीवित ही क्यों रहना चाहता है ? तो इसका कोई उत्तर नहीं है उसके पास। बस वह यही कहेगा कि जीवन अमूल्य है उसकी रक्षा करनी चाहिए। किन्तु अमूल्य क्यों है, यह कोई नहीं जानता।

फिर पूछिए किसी आध्यात्मिक विद्वान् या धर्मधुरन्धर पण्डित से कि जब शरीर नाशवान् है, सभी जानते हैं कि किसी दिन मरना ही होगा, तो भी जीवन से प्यार करते हैं, मरना नहीं चाहते, ऐसा क्यों ? आपकी क्यों का उत्तर वह भी गोल-मोल देकर टालेगा आपको, कहेगा कि जीवन में जो आनन्द है, जो भौतिक सुख है, वह मरने पर नहीं

रहेगा, उसे इसी जीवन में भोगा जा सकता है। भोग लो. जितना भोगा जा सके उस सुख को।

परन्तु सुख की परिभाषा कोई नहीं बता पाता है। बस सुख है, इतने से ही सन्तोष कर लेना ही उचित है। विद्वानों ने जीवन का उद्देश्य चार पुरुषार्थों में निहित कर दिया है। परन्तु तथ्य यही है कि जीवन का मुख्य उद्देश्य काम वासना में ही निहित है। क्यों ?

इस क्यों का उत्तर बहुत स्पष्ट है—जीवन के आरम्भ में काम—वासना ही मूल रही है। मनुष्य को ही नहीं समस्त मैथुनी सृष्टि वाले जीवों को काम-वासना से ही अपना-अपना शरीर प्राप्त करना पडा है। इतनी गहरी कि उन्हें सहज में खोदा जा सके।

गुण, कर्म, स्ववभा का निर्माण प्राय: वंश परम्परा से ही होता है। यद्यपि परिवेश उनमें कुछ परिवर्तन तो कर सकता है है किन्तु समूल नष्ट नहीं कर सकता है। यही कारण है कि काम-वामेना का अंकुर सदा बना रहता है। उसी प्रकार जैसे राख की ढेरी में आग की चिगारी दबी रहती है।

पुराण साक्षी हैं कि बड़े-बड़े ऋषि-मुनि, योगी-संन्यासी भी काम—वासना के समक्ष घुटने टेक गए। उनके नियम, ब्रह्मचर्य व्रत की प्रतिज्ञा उनका गृहस्थाश्रम त्याग आदि सभी कुछ व्यर्थ हो गया। न जाने कितने मुनि रूप से मोहित होकर काम-वासना के प्रति समर्पित हो गए। न जाने कितने साधकों ने अपनी जीवन भर की साधना कुछ ही क्षणों में गँवा दी।

जैसे आग की चिंगारी हवा का संयोग पाकर प्रज्वलित हो उठती है, वैसे ही काम की चिंगारी किसी स्त्री को साधन रूप में प्राप्त कर भड़क उठती है। उस समय मनुष्य समस्त नैतिक मूल्यों को भूल जाता है। बेचारा नैतिक मूल्यों को ही क्या, स्वयं को ही भूल

बैठता है। उसे ध्यान नहीं रहता कि मैं क्या हूं और क्या बनने जा रहा हूँ।

क्योंकि काम-वासना जब वेगवती होती है तो सर्व प्रथम मस्तिष्क को प्रभावित करती है। मस्तिष्क के घेरे में फँसा हुआ मन उस समय और भी अधिक स्थूल हो जाता है। यदि कोई बुद्धिमान साधक उस समय पकड़ना भी चाहे मन को तो वह पकड़ नहीं सकता। क्योंकि बुद्धि विवेक खो बैठती है और वासना प्रबल हो जाती है।

और प्रबल काम-वासना आपको आविष्ट कर लेती है अपने में। उस समय चेतन मन वासनामय होकर अधिक सक्रिय बन जाता है और अन्तर्मन और भी गहरा घुस जाता है, छिप जाता है, क्योंकि उसे क्रिया क्षेत्र नहीं मिल पाता। यदि आपको बाहर कहीं स्थान न दिखाई दे तो निश्चय ही आप घर में भीतर जा बैठेंगे और यदि कहीं आपको खतरा प्रतीत हो हिंसक चोर, डाकुओं का तो आप जा छिपेंगे किसी ऐसे स्थान पर जहाँ सुरक्षा की अधिक सम्भावना होगी।

मन के समान काम-वासना भी अपने स्तरों में विभाजित है। जब वह चेतन मन के साथ रहती है तब मनुष्य को अधिक कामुक बना देती है। उस स्थिति में उसकी गति अध्यात्म की ओर नहीं रहती। क्योंकि चेतन मन तो भोगवाद की ओर बढ़ने का एक सबल साधन है। उसे अध्यात्म में नहीं, भौतिक भोगों में ही सुख का आभास मिलता है।

किन्तु जब काम-वासना अचेतन के साथ मिलती है तब मनुष्य की कामुकता मोड़ ले लेती है दूसरी ओर। उस स्थिति में वह आवरित होती है अध्यात्म से, नैतिकता से, धर्म से और उसका उद्देश्य हो सकता है—सच्चे सुख की प्राप्ति। जिस सुख को चेतन मन के साथ घुली-मिली वासना किसी भी अवस्था में प्राप्त नहीं कर सकती।

अध्यात्म वासना–नाश का निर्देश नहीं देता

अध्यात्म का उद्देश्य क्या है ? क्या काम-वासना को मिटा देना ? यदि आप इस प्रश्न के लिए छान-बीन करके उत्तर देना चाहें तो वह उत्तर होगा कि अध्यात्म कभी किसी वासना को नष्ट करने के पक्ष में नहीं है। क्योंकि वासना प्राकृतिक है और जो प्राकृतिक है, उसे अध्यात्म भी कैसे मिटा दे ?

अध्यात्म कहता है—मनुष्य को धर्म की प्राप्ति करनी चाहिए, अर्थ की प्राप्ति करनी चाहिए, काम की प्राप्ति करनी चाहिए और उसके बाद जो प्राप्ति करनी है, वह है मोक्ष अर्थात् तीन सीढ़ियों को चढ़कर मोक्ष की चौथी सीढ़ी पर पहुँच सकते हैं। कोई चाहे कि सीधा मोक्ष का अधिकारी हो जाय, वह नहीं हो सकता। मोक्ष का अधिकार प्राप्त करने के लिए पहिले धर्म, फिर धन और उसके बाद काम की प्राप्ति करनी चाहिए।

मीमांसाकार ने सम्भवतः पुरुषार्थ के चारों रूपों को स्वीकार करके ही सर्व प्रथम, 'अथातो धर्म जिज्ञासा' कहकर धर्म की खोज आरम्भ की है। वे कहते हैं कि 'वेद–विहित लक्षण' वाला अर्थ ही धर्म है। इन्द्रियों के कार्य वस्तु परक होने पर जो ज्ञान होता है, वही प्रत्यक्ष ज्ञान है। किन्तु यह ज्ञान विद्यमान पदार्थ के इन्द्रियों से संयोग प्राप्त करने के कारण धर्म में निमित्त नहीं होता।'

वैशेषिक ने धर्म की व्याख्या भिन्न प्रकार से की है, वे कहते हैं—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिस्स धर्मः' अर्थात् 'जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस-सिद्धि (मोक्ष की प्राप्ति) हो, वही धर्म है।'

उक्त दर्शनों के दोनों रचयिताओं ने धर्म की जो व्याख्या की है वह लौकिक और पारलौकिक दोनों दृष्टियों से ही की है। वैशेषिक तो स

शब्दों में उसी को धर्म मानते हैं, जिसके द्वारा लौकिक अभ्युदय भी हो और अन्त में मोक्ष भी मिल सके।

धर्म भोग और मोक्ष दोनो का साधन

इस प्रकार धर्म जहाँ मोक्ष का साधन है, वहाँ भोग का भी है। अर्थ का अभिप्राय धन से है, संसार में जब तक रहना है, धन के बिना काम चलने वाला नहीं है। अर्थ (धन) एक ऐसी कड़ी है जो धर्म के लिये भी उपयोगी है और काम के लिए भी। धर्म करना है तो धन का सहारा लेना ही होगा और काम-वासना की पूर्ति करनी है तो भी धन की आवश्यकता रहेगी ही।

अब धर्म से ऊपर रहा धन, पहिले धर्म का निश्चय करो और फिर धन का उपार्जन। यदि पूर्वजों की कमाई हुई पूँजी मिल गई, तो उसे भी सँभाल कर रखो, नष्ट मत होने दो। क्योंकि पूँजी पर ही संसार चल रहा है।

आप कह सकते हैं कि यह तो कृपण बनाने का पाठ सिखा दिया आपने, किन्तु नहीं, यह कृपण होने की शिक्षा नहीं है, जीवन को सुव्यवस्थित रूप से चलाये रखने के लिये आवश्यक उपाय है। धर्म करना है तो धर्म के बिना नहीं हो सकता है तो भी धन चाहिए। जब धर्म और धन दोनों की स्थिरता हो जाय तब तभी कामोपभोग के अधिकारी हो सकते हो, यह तथ्य पुरुषार्थों के क्रम से पूर्णरूपेण सिद्ध है।

वेदान्त दर्शन का प्रथम सूत्र है 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' अर्थात् 'अब ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए।' कब करनी चाहिये ब्रह्मकी जिज्ञासा? संसार के भोगों को भोग लेने के बाद। जब धर्म, अर्थ और काम रूपी तीनों पुरुषार्थों की मंजिल पार कर लो तब बढ़ो उस मंजिल की ओर जिसे 'परमात्मा की मंजिल' कहते हैं। यदि उसे कोई 'मोक्ष की मंजिल' कहना चाहे तो भी कह सकता है।

वेदान्त दर्शन में ही कहा है—'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्' अर्थात् 'उस ब्रह्म में निष्ठा रखने वाले के लिये ही मोक्ष का उपदेश होने से।' अथवा जो ब्रह्म में निष्ठा रखे, वही मोक्ष का अधिकारी है।

मोक्ष क्या है ? इस पर सांख्य ने अपने पहिले सूत्र में ही प्रकाश डाल दिया है—'अथ त्रिविध दुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्त पुरुषार्थः' अर्थात् 'तीनों प्रकार के दुःखों (आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक) को अत्यंत निवृत्ति ही अत्यंत पुरुषार्थ (मोक्ष) है।'

अब प्रश्न यह है कि किस प्रकार से हो इन तीनों प्रकार के दुःखों से पूर्ण निवृत्ति ? यदि इस पर ठीक प्रकार से विचार करें तो उत्तर मिलेगा कि समस्त दुःख-सुख की मान्यता का कारण यह मन ही है। मन जिसे चाहे दुःख मान ले और जिसे चाहे उसमें सुख का अनुभव कर ले। यदि दृष्टिकोण निरा आध्यात्मिक ही नहीं है, वरन् तथ्य-पूर्ण है।

इसीलिए बहुत-से विचारक कहते है कि मन को मजबूत बनाओ, इतना मजबूत कि वह दुःख को दुःख न समझे और सुख को सुख न माने। यह उदासीन भाव है, जिसे समत्व भाव भी कहते हैं। जो चाहे इस भाव को प्राप्ति अभ्यास के द्वारा सहज ही कर सकता है।

मन का यही भाव इच्छाओं के रूपान्तरण में भी सहायक होता है। मन दुःख को दुःख न मानकर सुख मानने लगे तो इससे बढ़कर और क्या रूपान्तरण होगा ? सभी कर्मों को करते रहो, किन्तु उनमें लिप्त न हो, यह गीता भी कहती है—

योगस्थ कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्धयसिद्धयो समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

अर्थात्—हे अर्जुन ! समस्त आसक्तियों को त्याग कर योग में स्थित रहता हुआ कर्म कर और सिद्ध हो चाहे असिद्धि (सफलता मिले या न मिले) समत्व भाव रख। यही समत्व भाव योग कहलाता है।

गीता में निचोड़ है समस्त धर्म शास्त्रों का। कोई भी नीति, योग, भक्ति, उपासना आदि की ऐसी पद्धति नहीं है, जिसका मन्तव्य इसमें न हो। गीता ने वेदों को मान्यता दी है तो पुराणों को भी नकारा नहीं है।

वही गीता भोगों को भोगने से रोकती नहीं। वासना है उसे पूरी करो, किन्तु उदासीन भाव से। उस वासना में लिप्त मत हो। भोजन करना है तो पेट भरने के लिए करो, स्वाद के लिए नहीं। लेटना है तो विश्राम की दृष्टि से लेटो, अनावश्यक प्रमाद या आलस्य के वशीभूत होकर मत लेटो। स्त्री-संसर्ग करना है तो काम सुख की दृष्टि से नहीं, वरन् सन्तानोत्पादन के उद्देश्य से करो।

यह उपदेश कोई नया नहीं है। हजारों वर्षों से दिया जाता रहा है। किन्तु कितने मनुष्य हैं जो इसका उद्देश्य समझ सके होंगे। इसका उद्देश्य समझा है अध्यात्मवादियों ने और उद्देश्य समझा है तो मार्ग भी खोज निकाला है उन्होंने उद्देश्य स्पष्ट है—वे चाहते हैं कि भोगों को भोगो किन्तु उनका सदुपयोग करो। उन भोगों में निहित यथार्थ मान्यता को स्वीकार करो और अपनी दृष्टि में एक ही लक्ष्य रखो वासना के रूपान्तरण का। वासना के रूपान्तरण में सहायक होता है समत्व भाव, उसकी सहायता लो।

शायद इस तथ्य से अनजान नहीं होंगे आप भी कि एक ही ऊर्जा का अपेक्षानुसार रूपान्तरण किया जा सकता है। वृक्ष की उत्पत्ति में मूल कारण वही ऊर्जा है जो उसके बीज में निहित है। उसी उर्जा के कारण स्वयं बीज भी ऊर्जा बन जाता है। उसी बीज में अंकुर फूटते हैं और धीरे-धीरे पौधा का रूप लेने लगते हैं। कालान्तर में वही बीज बड़े वृक्ष का रूप धारण कर लेता है।

ज्ञान के बिना सभी शक्तियाँ निरर्थक

विद्वानों ने ज्ञान को शक्ति माना है ? इसलिए कि बिना ज्ञान के कुछ हो नहीं सकता । ज्ञान शक्ति नही तो क्रिया शक्ति और इच्छा शक्ति भी निकम्मी । वेकन ने ज्ञान को शक्ति माना था विज्ञान के पक्ष में और अध्यात्मवादी मानते हैं उसे अध्यात्म के पक्ष में । तात्पर्य स्पष्ट है कि ज्ञान में अध्यात्म की शक्ति तो है ही, विज्ञान की शक्ति भीविद्यमान है । क्योंकि ज्ञान के बिना विज्ञान ही क्या करेगा ?

इसीलिये धर्म विशारदों ने ज्ञान को विजय और अज्ञान को पराजय कहा है । पुरुषार्थियों ने ज्ञान को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों से युक्त बताया है तो धनार्थियों ने ज्ञान को ही धन माना है ।

शक्ति अज्ञान में भी है, किन्तु रजोगुण और तमोगुण से युक्त है । उसके द्वारा भयंकर परिणाम निकल सकता है, इसीलिए विद्वज्जन अज्ञानमयी शक्ति के प्रयोग से डरते हैं । शायद सुना हो आपने कि कृत्यादि समस्त मारक कर्म अज्ञानमयी शक्ति के ही अन्तर्गत आते हैं ।

संसार त्रिगुणात्मक तो है ही, ज्ञानशक्ति में उसका एक ही गुण विद्यमान रहता है—सतोगुण । शुद्ध ज्ञान वही है, जिसमें तमोगुण और रजोगुण का समावेश न हो । यदि ऐसा होता है तो ज्ञान की शुद्धता सन्देहास्पद हो जाती है । उसमें थोड़ा भी मिश्रण हुआ तो मोहोत्पादक बन जाता है और जिसमें मोह है, वह भयानक है, डरावना है । उतना ही भयानक और डरावना जितना 'विषयुक्त कनक घट ।'

कामवासना भी भयानक और डरावनी है । उसकी शक्ति को जानते हुए डर उत्पन्न होता है । किन्तु प्रत्येक वस्तु के दो पक्ष होते होते हैं । जो पक्ष अधिक व्यक्त होता है, उसी की जानकारी हो पाती है । कोई वस्तु छिपी हुई है, उसे सभी देख या जान लें, यह आवश्यक नहीं है ।

ऐटम शक्ति का प्रयोग विनाशकारी भी है और सृजनात्मक भी ।

बम बनाकर विस्फोट करने से वह हिरोशिमा और नागासाकी जैसा विध्वंस कर सकता है। किन्तु विद्युत आदि के रूप में प्रयोग करने पर उसके द्वारा बड़े-बड़े कारखाने चलाये जाते हैं और खेती की ऊपज भी बढ़ाई जाती है।

विष के भी दो उपयोग हो हैं—जब वह किसी की हत्या के लिए प्रयोग में लाया जाता है, तब विनाशकारी सिद्ध होता है और जब औषधि रूप में सेवन कराया जाता है तब उससे बल की वृद्धि होती और शरीर की धातुएँ पुष्ट होती हैं।

काम-वासना का भी जब सन्तानोत्पादन के उद्देश्य से सहारा लिया जाता है, तब घर की शोभा बढ़ा देती है। बालकों की सुखद किलकारी का आनन्द काम-वासना की ही देन है। किन्तु जब इसका निरर्थक प्रयोग किया जाता है तब धातुक्षण, दुर्बलता, क्लैब्य आदि के रूप में मनुष्य को रोगी बना देती है।

काम-वासना और ऊर्जा

परन्तु जानते हो क्या है काम-वासना में? उसमें एक ऐसी ऊर्जा विद्यमान है, जिसकी बराबरी शायद कोई अन्य ऊर्जा कर ही न सके। यदि उसका सदुपयोग किया जा सके तो अध्यात्मवादियों ने जिन चार पुरुषार्थों की आवश्यकता पर बल दिया है, उनकी प्राप्ति सरल हो सकती है।

ऐसा नहीं है कि किसी ने इस ऊर्जा को जाना ही न हो। न जाने कितने योगाभ्यासियों ने इस ऊर्जा को उसी प्रकार अपने वश में करके लोग उससे मन चाहे काम लेते हैं। प्रकाश, पंखा, फ्रिज, टेलिविजन, रेडियो आदि शारीरिक सुख-सम्बन्धी विभिन्न सामानों से लेकर बड़े-बड़े कारखाने तक इस बाह्य ऊर्जा के बल पर ही चलते हैं। लाखों-करोड़ों लोगों की रोटी-रोजी उसी विद्युत् ऊर्जा पर निर्भर हैं। वही ऊर्जा आज कृषि-उत्पादन में भी अपना योगदान कर रही है।

मनुष्य के भीतर जो ऊर्जा है, वह उससे भी अधिक शक्तिशाली है, जिसका महत्व समझा था हमारे ऋषि-मुनियों ने । उन्होंने इसी ऊर्जा के बल पर न जाने कितने बड़े-बड़े कार्य कर डाले संसार में । वे चाहते थे, वही होकर रहता था । उनके मुख से जो निकल गया वह पत्थर की अमिट लकीर बन गया । किसी मुनि ने पूरा समुद्र पी लिया, किसी ने सूर्य को उदित होने से ही रोक दिया या किसी ने पर्वत ही नीचा झुका दिया, यह सब आन्तरिक ऊर्जा का ही प्रभाव था । हनुमानजी उत्तराखण्ड में जाकर संजीवनी युक्त पर्वत उठा लाये, उनकी अद्भुत क्षमता की जड़ में ब्रह्मचर्य था । ब्रह्मचर्य के द्वारा शरीर में जो ऊर्जा संचित होती रहती है, उसकी शक्ति सामर्थ्य को कौन अस्वीकार कर सकता है?

परन्तु सभी कुछ ब्रह्मचर्य ही निहित नहीं है । लोकहित के लिए इससे विपरीत दिशा में भी जाना होता है । उसका भी एक विज्ञान हो सकता है, एक टेक्नीक हो सकती है । गृहस्थाश्रम में रहने वाले दम्पत्ति पूर्णरूप से ब्रह्मचारी नहीं रह सकते । यदि रहें तो वंश-परम्परा का निर्वाह नहीं हो सकता । किन्तु ब्रह्मचर्य-भंग की उस प्रक्रिया द्वारा भी संसार का बहुत कुछ उपकार हो सकता है । उसी प्रक्रिया ने संसार में बड़े-बड़े वैज्ञानिक उत्पन्न किये, बड़े-बड़े आविष्कारकों को जन्म दिया । बड़े-बड़े शूर-वीर सम्राट, अपने प्राणों पर खेलने वाले दृढ़ प्रतिज्ञ लोग, बड़े-बड़े राजनयिक नेता, बड़े-बड़े वेदवाचस्पति किस प्रकार उत्पन्न हुए ? ब्रह्मचर्य-भंग की ही प्रक्रिया से न ?

इसका अभिप्राय यह नहीं कि हम ब्रह्मचर्य-भंग को ही कोई महती प्रक्रिया मानते हों कोई भी प्रक्रिया अपने विशेष परिणाम तभी व्यक्त करती है, जब उसका प्रयोग किसी विशेष प्रकार से हुआ हो । सूर्य के विषय में सभी जानते हैं कि उसमें बड़ी भारी गर्मी है, इतनी गर्मी कि

उसकी अद्वितीय ऊर्जा संसार के लिये बहुत ही उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

आज का विज्ञान यह मानने लगा है कि सभी प्रकार की ऊर्जाओं में सौर-ऊर्जा का प्रमुख स्थान हो सकता है। उसके द्वारा बड़े-बड़े कारखाने चलाए जा सकते हैं। साधारण ईंधन की कमी भी सौर-ऊर्जा से पूरी की जा सकती है। बड़े-बड़े वैज्ञानिक परीक्षण चल रहे हैं. इसे उपयोग योग्य बनाने के उद्देश्य से, किन्तु बिना तकनीक का ज्ञान हुए उसका समुचित उपयोग किया जाना सम्भव नहीं है।

यद्यपि बहुत लोग जानते हैं कि सूर्य–किरणों को आतशी शीशे के केन्द्र बिन्दु पर लाने से उसकी परिधि में आया कोई भी ज्वलनशील पदार्थ जलने लग सकता है। तो भी उसके उपयोग के लिए किसी प्रक्रिया, किसी तकनीक की आवश्यकता तो है ही।

उपयोग का यथार्थ ज्ञान अपेक्षित

विद्युत् के आविष्कार में एडिसन का नाम लिया जाता है। एडिसन ने उसकी तकनीक संसार के सामने रख दी तो आज सभी उसके विषय में जानते हैं। एक छोटा सा इञ्जीनियर भी विद्युत्-सम्बन्धी सब कार्यों की जानकारी रखता है। बहुत से पेशेवर मिस्त्री इस कार्य को आए दिन करते रहते हैं। अनेक घरों में घर के लोग ही विद्युत् फिटिंग आदि तक के जानकार पाए जाते हैं। इस प्रकार बाह्य विद्युत् का ज्ञान प्रायः सामान्य ज्ञान के अन्तर्गत आ गया है।

किन्तु मानव शरीर की आन्तरिक विद्युत् की शक्ति और उसके उपयोग के विषय में लोगों को ज्ञान नहीं है। यदि उसकी कोई तकनीक खोज भी ली जाय तो भी हर कोई उसे जान नहीं सकता। जानें कैसे ? यह विषय ही ऐसा है, इतना गोपनीय समझा जाता है इसे कि जो जान

लेता है, वह भी बताना नहीं चाहता, जो जानना चाहता है, उसमें पूछने का साहस नहीं होता।

इसका ज्ञान राम को था, कृष्ण को था, हनुमान, बलराम, भीम, अर्जुन आदि बहुतों को था। बुद्ध, महावीर, ईसा आदि भी शायद इसके विषय में बहुत कुछ जानते थे। वर्तमान युग में गाँधी ने भी शायद इसके सम्बन्ध में कुछ जानकारी कर ली थी। और भी जिन-जिन ने अत्यन्त पराक्रम वाले या अलौकिक कार्य किए, वे सब उसके रहस्य को कम या अधिक अंश में समझ अवश्य गए होंगे।

साधारण मनुष्य नहीं जानता कि काम-ऊर्जा (सेक्स एनर्जी) को किस प्रकार बहाया जाय? यदि उसे रोकना अपेक्षित हो तो किस प्रकार रोका जाय और उपयोग में लाना हो तो किस प्रकार? राम, कृष्ण आदि ने उस ऊर्जा का महत्व तो अपने पराक्रम-प्रदर्शन द्वारा संसार को बता दिया, किन्तु उसका उपयोग उतनी सरलता से नहीं बताया, जितना कि एडिसन ने बता दिया था।

जब इसका ज्ञान इस प्रकार नहीं हो सकता तो उसकी प्राप्ति के लिए हमें राम, कृष्ण, हनुमान आदि स्वयं बनकर देखना होगा। यदि ऐसा न बनना चाहेंगे तो आन्तरिक ऊर्जा के उपयोग की तकनीक किस प्रकार जान पाएँगे? यह मान्यता नई नहीं है कि यदि कुछ पाना है तो पहिले खोना होगा। खो डालो अपने को यदि कुछ पाना चाहते हो तो। इसके बिना आपको कुछ भी हाथ लगने वाला नहीं है।

आप पूछेंगे कि अपने को किस प्रकार खोएँ? वस्तुतः यह प्रश्न नया नहीं है, लाखों वर्षों से पूछा जाता रहा है। खोने की प्रक्रिया सदा ही जिज्ञासा का विषय रही है। बताने वालों ने यद्यपि इस विषय में बहुत बताया है, बहुत बार समाधान किया है इस प्रश्न का, किन्तु मनुष्य तो स्वभाव से ही भुलक्कड़ है, उसे याद नहीं रहती उस समाधान की।

फिर याद रहे भी तो कैसे, जब समस्त संसार के स्त्री पुरुष विकृत विकृत काम वासना के शिकार बने हुए हैं ? मनोवैज्ञानिक बताते हैं कि मानव स्वभाव पर परिवेश का बड़ा प्रभाव पड़ता हैं। वह जिस वातावरण में रहता है, उसी के रङ्ग में बहुत कुछ रङ्ग जाता है। हमारे विद्वानों ने भी सङ्गति के प्रभाव को प्रबल माना है। वे कहते हैं—'सङ्गत बैठे साधु की हरे और की व्याध।' यदि सज्जनों के साथ बैठे–उठे तो दूसरों के दुःख–दर्द दूर करने की भावना जाग्रत् हो सकती है।

हाँ तो स्वयं को मिटाने की बात थी। स्वयं को मिटाने का अर्थ अहं भाव को नष्ट करना है समझ लो कि यह शरीर जो कुछ करता है, वह मैं नहीं करता। वह जो कुछ भी हो रहा है प्रभु–इच्छा से हो रहा है, क्योकि जड़ और चेतन दोनों का अधीश्वर एक भगवान् ही है। हम किसी भी कार्य के कर्त्ता नहीं हैं। यदि हम अपते को कर्त्ता मानते रहेंगे तो अहं भाव मिटेगा नहीं और अहं भाव नहीं मिटेगा तो जो कुछ पाना चाहते हो वह मिलेगा नहीं।

राम ने जहाँ कहीं अपने को कर्त्ता माना है, ईश्वर रूप में ही माना है। कृष्ण भी जहाँ मैं का प्रयोग करते हैं, ईश्वर रूप में ही करते हैं। उन्होंने मैं का प्रयोग खुदी को मिटाकर किया है। अपने को ब्रह्म में आत्मसात् करके ही मैं का उपयोग हुआ है उनके उपदेशों में।

और आप भी चाहें तो वैसा कर सकते हैं। अहं को मिटाकर मैं का प्रयोग करें तो वह ईश्वर वाचक बन जाता है। ईश्वर तो आपके शरीर में भी बैठा है, तब आपका कथन भी ईश्वर का कथन क्यों नहीं हो सकता ?

आत्मा परमात्मा का ही अंश है, इसलिए आत्मा-परमात्मा में कोई भेद नहीं है। परमात्मा का अंश आत्मा अहङ्कार के वश में पड़

कर ही तो संसार के बन्धन में फँसता और जन्म मरण के चक्र में घूमता रहता है।

हम भूल रहे हैं अपने स्वरूप को और मोहित हो रहे हैं गर्हित काम वासना की चमक में। इसीलिए अहं का त्याग नहीं कर पाते। वह अहं ही हमें अनेक भयङ्कर रोगों का शिकार बना देती है। उसके झटके शरीर की शक्ति को वैसे ही खींच लेते हैं, जैसे वाह्य विद्युत् के झटके मनुष्य की शक्ति को तेजी से खींचकर उसे निर्जीव बना देते हैं।

बिजली के विषय में न जानने वाले किसी मनुष्य को प्लक में प्लक टॉप लगाने को कहो तो सम्भव है उससे कुछ भूल हो जाय और उसके प्राण ही खतरे में पड़ जाएँ। यदि प्लक टॉप को प्लक में लगाते समय उसकी पिन का शरीर से किसी प्रकार स्पर्श हो जाय तो ऐसी ही सम्भावना हो सकती है। अनेक व्यक्ति वाह्य विद्युत् के गलत प्रयोग के फल स्वरूप अपने प्राण गँवा चुके हैं।

यदि आप नहीं जानते बिजली का प्रयोग तो उसको हाथ ही मत लगाओ। मत रखो यह अहं भाव कि मैं इसका ठीक उपयोग जानता हूँ और कभी-कभी तो ठीक प्रकार से प्रयोग करना जानने वाले भी खतरे में पड़ चुके हैं। समाचार पत्रों में इस प्रकार से मरने वालों की खबरें भी कभी-कभी पढ़ने में आ जाती है।

उस प्रकार की मृत्युओं के मूल में क्या है? वह अहं भाव जो हमें लापरवाह बना देता है। हम समझते हैं कि बिजली के विषय में हमारी पर्याप्त जानकारी है, इसलिए हमसे भूल नहीं हो सकती। और यह विचार कि हमसे भूल नहीं हो सकती, अहङ्कार ही है। जहाँ अहंकार उत्पन्न हुआ वहीं भूल उत्पन्न हुई। समझ लीजिए कि अहंकार और भूल दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध है। अहंकार होगा तो भूल भी होगी और

भूल हुई है तो वह अहंकार के कारण ही हुई होगी ।

अहङ्कार कितना खतरनाक है

देखा आपने, कितना खतरनाक है अहङ्कार ? जब वह मन में बस जाता है तो आत्मघाती बन जाता है । उसमें इतनी क्रूरता और भयङ्करता है कि अपने प्रति भी कुछ उदारता नहीं रखता । उसका विश्वास है विध्वंस में । अहङ्कार है तो विध्वंस की सम्भावना बनी ही रहेगी ।

रावण ने अहङ्कार किया था, कंस ने अहङ्कार किया था, जरासन्ध और शिशुपाल ने भी अहङ्कार किया था । उसका मूल्य उन्हें प्राण देकर चुकाना पड़ा । कौरवों के अहङ्कार ने महाभारत युद्ध की आग भड़का दी और अपना ही सर्वनाश कर लिया । द्रौपदी उस सर्वनाश की जड़ थी । उसके अहङ्कार ने कितना बड़ा ताण्डव उपस्थित किया था युद्ध का यह संसार की दृष्टि से छिपा नहीं है ।

क्या आप समझते हैं कि आज वह अहङ्कार सक्रिय नहीं है ? यदि न होता तो युद्ध की भूमिकाएँ ही नहीं बनती । संसार शांति की आड़ में युद्ध की ओर बढ़ रहा है, यह अहङ्कार की ही करामात है । आए दिन राज्य-शासनों में परिवर्तन होते रहते हैं, वह किसके बल पर ? क्या उन परिवर्तनों में कोई लोकहित निहित है ?

जब तक अहङ्कार जीवित रहेगा, लोकहित तो बहुत दूर की बात है, आत्म-हित भी असम्भव है । समस्त विकारों का मूल अहङ्कार ही है । ब्रह्मा ने चाहे सृष्टि का उत्पादन अहङ्कार से न किया हो, विष्णु चाहे विश्व का पालन अहङ्कार से न करते हों, किन्तु रुद्र को जब कभी प्रलय करनी होती है तब अहङ्कार से ही काम लेना होता है ।

सर्ग में सतोगुण का अधिक योगदान रहता है, पालन में रजोगुण का अधिक अंश और संहार तो तमोगुण के बिना होता ही नहीं। जहाँ अहं नहीं, वहाँ सतोगुणी प्रवृत्ति का रहना स्वाभाविक है, जहाँ अहं भाव कम है, वहाँ रजोगुणी प्रवृत्ति रहेगी, किन्तु जहाँ अहं की मात्रा अधिक है, वहाँ तमोगुण की ही अधिकता होगी, उसी तमोगुण की तो विनाश का एक मात्र कारण है। तमोगुण है तो विध्वंसक परिस्थितियाँ बनने में देर नहीं लगेगी।

जब काम-वासना के साथ अहङ्कार मिलता है, तब वह विकृत हो जाती है। उसका परिणाम निश्चय ही विकार युक्त होता है। अपङ्ग बालकों की उत्पत्ति विकृत काम-वासना का ही फल है। मानसिक और शारीरिक दृष्टि से अस्वस्थ बच्चों के जन्म में भी वही कारण है। दुष्ठ प्रवृत्ति के मनुष्य अपनी प्रवृत्ति के निर्माण में कुछ वंश परम्परा से भी लेकर आते हैं। यह आवश्यक नहीं कि उन पर माता-पिता का ही प्रभाव पड़ा हो, दादा, परदादा, आदि का भी प्रभाव पड़ सकता है।

इतिहास बताता है कि महाराणा प्रताप बड़े शूरवीर थे। उनके पितामह राणा सांगा की वीरता भी किसी प्रकार कम नहीं थी, किन्तु प्रताप के पिता आलसी और भीरू स्वभाव के थे और ऐसा ही स्वभाव प्रताप के पुत्र का भी बताया जाता है।

इससे समझ सकते हैं कि राणा सांगा का प्रभाव अपने पुत्र पर उतना नहीं पड़ा जितना अपने पौत्र पर। उसी प्रकार राणा सांगा के पुत्र का प्रभाव अपने पुत्र प्रताप पर न पड़ कर पौत्र अमर सिंह पर पडा। परन्तु ऐसा क्यों हुआ ? इसका उत्तर शायद किसी वैज्ञानिक के पास भी न हो।

हम समझते हैं कि इसमें भी अहं भाव की न्यूनाधिकता ही मुख्य रूप से कारण रही होगी। शायद सुनी हो आपने एक कहानी, जो एक

मुर्गा पालने वाले से सम्बन्धित थी। उस व्यक्ति का मुर्गा बाँग देता था और तब सूर्योदय का समय होता था। एक दिन उस आदमी का झगड़ा हो गया गाँव वालों से तो उसने कहा—'मुझसे लड़ोगे तो मजा चखा दूँगा तुम्हें' लोगों ने पूछा—'इस गाँव में सूरज ही न निकलने दूँगा, तब तुम सब लोग अन्धकार में डूबे रहोगे।'

गाँव वाले हँसने लगे उसकी बात पर, बोले—कैसा मूर्ख है, जो व्यर्थ बकवाद करता है?' वह बोला—'मेरा मुर्गा ही तो सूरज को उगाता है, मैं इसे लेकर दूसरे गाँव में चला जाऊँगा।' और वह सचमुच ही दूसरे गाँव में चला गया।

वहाँ भी मुर्गा बाँग देने के बाद सूर्योदय हुआ। उस आदमी ने सोचा—'अब यहाँ सूरज उदय होने लगा है। सबको पता चल जायगा मुझसे झगड़ने का नतीजा, जब हर समय अन्धकार में ही रहेंगे।

परन्तु, यह उसका अहङ्कार ही था। वह जिस गाँव को छोड़कर आया था, उसमें मुर्गे ने बाँग न दी तो क्या हुआ, सूर्य तो निकला ही। इसी को कहते हैं मिथ्या अहङ्कार। अहङ्कार उत्पन्न होता है तो वह मिथ्या ही होता है। उसमें सत्यता नहीं होती, इसलिए उसकी सत्ता भी नहीं मानी जाती।

जब अहङ्कार मिथ्या है और उसका परिणाम या तो कुछ होता नहीं, अथवा होता है तो भयङ्कर भी हो सकता है। एटम का प्रयोग शायद इस तथ्य को ध्यान में रखकर नहीं किया गया होगा कि उससे जापान के दो महानगर तहस-नहस हो जाएँगे। और शायद यह भीं कल्पना की गई हो कि जितना भयङ्कर परिणाम निकला, उससे भी अधिक भयङ्कर परिणाम निकले।

बात कुछ भी हो, था यह विकृत अहं भाव का ही कु–परि–णाम। इसमें विकृत काम–वासना का समावेश अवश्य रहा होगा।

जिन्होंने इस प्रकार के भयङ्कर अस्त्र का निर्माण किया और जिन्होंने उसका इस प्रकार से प्रयोग किया, उन सबका अहम् भाव विकृत काम वासना से ही संश्लिष्ट या समाविष्ट रहा होगा।

मनुष्य की किसी भी प्रकार की वासना में, किसी भी प्रकार की भावना में, अहं का समावेश अवश्य रहता है। वही उस वासना या भावना को विकृत बनाने में मुख्य कारण होता है। जब हम कुछ करना चाहते हैं, तब हमें स्वयं को अहं भाव से मुक्त करने का निश्चय करना चाहिए। जो कुछ करो अपना समझ कर मत करो, वरन् मानव जीवन का धर्म समझ कर करो। मत सोचो कि हम जो कुछ कर रहे हैं उसका फल मिलेगा। मिलेगा तो अवश्य, किन्तु तुम्हारी इच्छा के अनुसार नहीं मिलेगा। उस फल में तुम्हारे पूर्व कर्म के फलों का भी तो मिश्रण रहेगा। तब कैसे मिलेगा वह, जो तुम चाहते हो। इसीलिए गीता में कृष्ण ने कहा है—

सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अर्थात् 'कर्म कर, धर्मानुकूल कर्म कर, किन्तु उन धर्मों को मेरे में आविष्ट मानकर केवल मेरी ही शरण में आ, मेरा ही आश्रय ग्रहण कर।

रहस्य को यथार्थ रूप में समझो

शायद आप समझ गए होंगे हमारा अभिप्राय, शायद आप चाहते हों कि उसे अभी और स्पष्ट किया जाय। कोई हानि नहीं है स्पष्ट कहने में हानि तो छिपाने में है। जो करो उसे छिपाओ मत। बड़े-बड़े विद्वानों ने भी किसी तथ्य को छिपानें का परामर्श नहीं दिया। वरन् कुछ तो ऐसे हुए हैं, जिन्होंने रहस्य को रहस्य नहीं रहने दिया। किन्तु उन्होंने जो कुछ कहा उसे सही रूप में समझा किसने ?

लोग वात्स्यायन की बात कहते हैं। उन्होंने जो कुछ दिशा दिखाने का प्रयत्न किया था, किन्तु उनके अभिप्राय को समझने वाले लोग कम ही रहे। जिन्होंने वात्स्यायन को पढ़ा वे उसे ठीक प्रकार से न समझने के कारण बहक गए। उन्होंने उससे प्रेरणा लेने की अपेक्षा यही अधिक उपयुक्त समझा कि प्रवृत्ति जिधर जा रही है उधर ही जाने दिया जाय उसे।

प्रवृत्ति में हस्तक्षेप की बात हम भी नहीं कहते। प्रवृत्ति है तो वह होगी ही, निवृत्ति द्वारा उसे रोकने का प्रयत्न वस्तुतः विकृति का प्रयत्न हो सकता है। आपने वात्स्यायन को गलत समझा है, मार्कण्डेय को गलत समझा है, शङ्कर और व्यास को गलत समझा है, यहाँ तक कि कृष्ण को भी सही नहीं समझ सके आप। मनु क्या कहते हैं? वाल्मीकि क्या कहते हैं? कृष्ण क्या कहते हैं? इसे समझना होगा आपको। यदि कुछ पाना है तो खोने की बात भी समझनी होगी।

कृष्ण कहते हैं—जीवित रहो, किन्तु अपने को मिटाकर। आप कहेंगे जीवित रहना और स्वयं को मिटाना परस्पर विपरीत बातें हैं तो कौन मानेगा उन्हें? अमृत धारा बनाने के लिए पीपरमेंट, कर्पूर और सत अजवायन लीजिए, डाल दीजिए इन्हें एक शीशी में। फिर देखिए—पीपरमेंट मिटने लगा है, कर्पूर मिटने लगा है, सत अजवाइन मिटने लगा है और इन तीनों ने गठबन्धन करके अपना रूप बदल लिया है। अपने को खो दिया है और अमृत धारा के नाम से रूपांतरण कर लिया है अपना। किसी से पूछिए कि कैसे हो गया ऐसा रूपांतरण?

उत्तर मिलेगा—हो जाता है ऐसा। यह एक प्रक्रिया है रूपांतरण की, जिसमें उन तीनों के गुण, तीनों की सङ्कुचित शक्ति विद्यमान है।

मत भूलिए कि अनेक वस्तुओं का रूपांतरण इसी प्रकार हो जाता है। स्वर्णकार जानता है कि स्वर्ण को गला कर तरल भी बनाया जा

सकता है और ठण्डा करके ठोस भी। वह यह भी जानता है कि कितने तापमान पर उसे गला सकते हैं। उसके द्वारा आभूषण बनाए जाते हैं, वह भी उसका रूपांतरण ही हैं।

कुम्हार जानता है कि कलश मिट्टी का ही रूपांतरण है। मिट्टी नहीं तो कलश भी नहीं। इसी प्रकार बुनकर जानता है कि रूई का रूपांतरण ही वस्त्र है। एक प्रकार की ही रुई अनेक प्रकार के वस्त्रों का रूप धारण कर सकती है।

रुई बत्ती बन कर दीपक में जलती है तो भी उसका रूपांतरण ही होता है। वृक्ष का रूपांतरण किवाड़, फर्नीचर, गाड़ी आदि के रूप में प्रत्यक्ष देखते हैं। ईंट, हत्थर, चूना, गारा यह सब मिट्टी के रूपांतरण हैं किन्तु जब यह किसी इमारत के अङ्ग बनते हैं तो अपना संगठित रूपांतरण कर लेते हैं।

रूपांतरण की यह क्रिया संसार में न जाने कब से चली आ रही है। प्रलय काल में विलीन हुआ संसार जब सर्ग काल में व्यक्त होता है, तब अपना रूपांतरण ही करता है। समस्त जीवों की सृष्टि परब्रह्म का ही रूपांतरण है। इस रूपांतरण का कार्य परमात्मा स्वयं ही करता है। इस सम्बन्ध में एक श्रुति है—'एकोऽहं बहुस्याम' अर्थात् 'परमात्मा विचार करता है कि अब सर्गकाल में मैं एक से अनेक हो जाऊँ।' एक से अनेक होने में अवश्य ही रूपांतरण होगा।

किसी धागे को लीजिए—वह यदि ५–७ लड़ मिला के बट लिया जाय तो सुतली का रूप धारण कर लेगा। आवश्यक होने पर उस सुतली को खोलकर पुनः धागा बनाया जा सकता है। यह भी रूपांतरण की ही क्रिया है।

शरीर की स्थितियों में सात धातुओं की अपेक्षा रहती है। वे धातु रस, रक्त, आदि के नाम से प्रसिद्ध हैं। खाया-पिया अन्न शरीर में पहुँच

कर रस बनता है और वही रस रक्त का रूप धारण कर लेता है। अन्य धातुएँ भी इसी का परिवर्तन मात्र है, जो अन्न निःसार रह जाता है, वह मल रूप में शरीर से बाहर निकल जाता है। इससे स्पष्ट है कि रस, रक्त आदि धातुएँ तथा मल भी खाए-पीए अन्न का रूपांतरण मात्र ही है। मूत्र भी तरल पदार्थों द्वारा ही रूपांतरित होता है।

इसी प्रकार काम-वासना का भी रूपांतरण किया जा सकता है। आप चाहें तो उसका सदुपयोग कर सकते हैं। आप चाहें तो अपनी विकृत काम-वासना को सहज और श्रेष्ठ बना सकते हैं। परन्तु आपको उसके लिए कुछ तो करना ही होगा। जानते हैं—यह संसार कर्मभूमि है। कर्म करोगे तो फल भी अवश्य पाओगे। परन्तु फल की चाहना अपेक्षित नहीं है। फल चाहोगे तो लिप्सा बढ़ेगी, मोह बढ़ेगा और क्रोध भी बढ़ जाएगा। जरा सोचो लिप्सा, मोह और क्रोध की तीन अग्नियों के प्रज्वलित रहते हुए कोई निःशङ्क रहे तो कैसे रहेगा ?

कोई कार्य करते हो करो। लिप्सा, मोह और क्रोध को एक ओर उठाकर रख दो। मत स्वीकार करो किसी भी मनोविकार की दासता। यह सब शत्रु हैं और शत्रु के समक्ष जितने झुकोगे, उतना ही अधिक झुकाएंगे वे। इसीलिए झुको मत, दब कर सन्धि मत करो उन मनोविकारों से। किन्तु विचारों में दृढ़ता लाओ, मन को खो जाने दो किसी कार्य विशेष में। इतना खोने दो कि तुम्हें होश ही न रहे।

बाह्य दुनिया को भूलने की स्थिति ही समाधि की अवस्था कहलाती है। आप चाहे तो इसे चलते, फिरते, खाते-पीते भी बना सकते हैं। यदि आप अपने मन को ध्येय वस्तु में इतना अधिक संलग्न कर लें कि वह

वहाँ से हटने का नाम ही न ले तो यह आपकी अच्छी सफलता होगी।

आप काम-वासना में प्रवृत्त हैं तो कोई बुराई नहीं। मन को वहाँ से हटाइए मत, वरन् लीन कर दीजिए उसमें, आत्मसात कर डालिए उसमें। ध्यान रखिए कि आप मन को जिसमें भी आत्मसात कर लेंगे, उसी में गहरे प्रविष्ट हो जाएँगे और जिसमें गहरे प्रविष्ट हो जाएँगे, उसमें वैसी अवस्था उत्पन्न होना असम्भव नहीं, जो समाधि-अवस्था में हो सकती है।

समाधि में बाह्य का आभास नहीं होता। यदि कुछ प्रतीत होता भी है तो आन्तरिक ही। उस समय अहं मिट चुका होता है, वासना रूप बदल चुकी होती है, काम कामरूप न रहकर योग रूप बन जाता है। मन की एकाग्रता और शान्ति का यह सबल साधन सिद्ध होता है।

किन्तु काम–वासना में भी मन का लीन होना कठिन होता है। छिछोरे नामक व्यक्ति उसे सात्विक रूप में नहीं रहने देते। उन्हें शायद सुख का आभास ही नहीं मिलता सात्विक ढँग के भोगों में। वे चाहते हैं भोगों का राजसिक और तामसिक स्वरूप।

सात्विकता रहित सभी प्रक्रियाएँ अशान्तिप्रद होती हैं। उनमें देवत्व तो नहीं ही रहता, मनुष्यत्व का भी लोप हो जाता है। जब तामसिक प्रवृत्ति अधिक बढ़ती है तब स्वभाव में पाशविकता का समावेश होने लगता है।

आप काम–वासना के भोग में सुख मानते हैं, उसे भोगने में लगे रहते हैं दिन-रात। यह भी नहीं देखना चाहते कि इसके लिए समय उपयुक्त है भी या नहीं। आपकी परिस्थितियाँ उसमें अनुकूलता उपस्थित करती हैं या नहीं। बस यही एक व्यवधान है वासना के भोग में।

क्योंकि एक पशु जो कुछ करना चाहते हैं, वही आप भी करना चाहते हैं। एक श्वान की जो प्रवृत्ति है वही प्रवृत्ति मनुष्य की हो गई है।

भोग बुरा नहीं, प्रवृत्ति बुरी है

हमने बताया कि भोग बुरा नहीं है, बुरी है तो प्रवृत्ति। उस प्रवृत्ति में सुधार अपेक्षित है, जिसे किया जाना कुछ कठिन नहीं है। लोग कहते हैं कि कामोपभोग में सुख मिलता है, जब तृप्ति के क्षण होते हैं तब अविस्मरणीय आनन्द की अनुभूति होती है। जानते हैं कि क्यों होती है वह आनन्दानुभूति ? इसीलिए कि उस समय मन विचार–शून्य हो जाता है। इसीलिए कि आपको होश नहीं रहता अपना और वह अवस्था उत्पन्न हो जाती है, जिसे योगीजन समाधि में ही प्राप्त कर पाते हैं।

किन्तु कितनी देर रह पाती है वह अवस्था ? शायद क्षण, दोक्षण। क्योंकि आज का मनुष्य कामोपभोग की जिस प्रक्रिया को अपनाता है, वह सुखोपभोग के पक्ष में अधिक टिकाऊ नहीं होती। उसमें उस समय रजोगुण से भी तमोगुण अधिक बढ़ जाता है, जिसका परिणाम होता है मानसिक अशान्ति। तृप्ति के पश्चात् मनुष्य उस बिन्दु से हट जाता है और विचारों का चलना आरम्भ हो जाता है।

बहुत से मनुष्य सोचते हैं कि क्या यह सम्भव नहीं कि काम–वासना के अन्त में होने वाली सुखानुभूति को बढ़ाया जा सके ? वस्तुतः इस प्रश्न का उत्तर योग में मिल सकता है, अध्यात्म में मिल सकता है, किन्तु भोग में नहीं मिल सकता। भोगों को भोग की तरह भोगा जायगा तो अशांति ही पल्ले पड़ेगी।

———————

भोगों को योग की तरह भोगो

योग की मान्यता हो सकती है कि भोगों को भोगो, किन्तु योग की तरह। योग की तरह भोगोगे तो उनका रूपान्तरण होने लगेगा। हम कहते हैं कि बुरे का रूपान्तरण करो अच्छे में। यदि इसमें सफलता मिल गई तो फिर कुछ पाने की आवश्यकता शेष नहीं रहेगी।

यदि आप अपने हाथ में सोना नहीं पहिन सकते और लोहा या या पीतल पहनते हैं तो वह कोई बुरी बात नहीं है। यदि आपसे कहा जाय कि लोहा व्यर्थ या पीतल से कोई लाभ नहीं, इसलिए इसे उतार फेंको तो आप इस कहने से सहमत शायद ही हों। आप सोचेंगे कि सोना तो पा नहीं सकते और लोहे या पीतल को फेंक दें तो फिर क्या रहेगा हमारे पास ? भई सोना न सही, लोहा-पीतल ही सही, कुछ तो है ही। जेब में रुपया नहीं, किन्तु पैसे हैं, तो पैसों का फेंक देना भी कोई बुद्धिमानी की बात नहीं।

किन्तु व्यापारी लोग जानते है कि पैसे से पैसे बढ़ते हैं। छोटा खोमचे वाला पचास पैसे के सामान से ही दो-चार रुपए कमा सकता है। इससे सिद्ध है कि पैसा भी निरर्थक नहीं है। उसका भी मूल्य है, उसका भी उपयोग है। लोहे का भी मूल्य और उपयोग तो है ही फिर क्यों फेंक दें उसे ?

जब तक दिव्य सुख उपलब्ध नहीं होता, तब तक लौकिक सुख को भी छोड़ दिया जाय, यह मूर्खता ही कही जायगी। आप काम-वासना के भोग में आज क्षणिक सुखानुभूति पाते हैं तो उससे भी कुछ मिलता तो

है। सम्भव है कभी दीपक का प्रकाश ही गैस के प्रकाश से अधिक लाभकारी सिद्ध हो जाय।

इस समस्या का समाधान योग के द्वारा सहज ही हो सकता है। मन को लीन करने का अभ्यास बढ़ाते चलो. डुबाते चलो मन को उसी प्रक्रिया में जिसमें क्षणिक सुख का अनुभव करते हो। मन चञ्चल रहेगा तो सुखानुभूति का समय कम से कम रहेगा। यह भी सम्भव है कि उतना भी सुयोग न मिले।

अनेक योगी कहते हैं कि आसक्ति मत रखो किसी भी भोग में, भोगो किन्तु आसक्ति-रहित होकर। जिस दिन आसक्ति न रहकर भोग के साथ योग मिल जायगा उस समय सुखानुभूति का समय भी बढ़ने लगेगा।

जब भोगों को भोग लोगे तो तृप्ति मिलेगी और वह तृप्ति जब तक लौकिक रहेगी, तब तक तुम्हारा मन शांत नहीं हो सकेगा, उसमें दिव्यता नहीं आ सकेगी। दिव्यता लाने के लिए मन को अत्यन्त शून्य बनाना होगा, उसमें से विचारों को निकाल फेंकना होगा। विचार-रहित मन ही समाधि की अवस्था को प्राप्त होकर नए संसार की सृष्टि में समर्थ होता है।

और योगी कहते हैं कि मन को विचार-रहित करना है तो ध्यान का आश्रय लो। ध्यान को पाश्चात्यजन मैडीटेशन कहते हैं। ध्यान मन को लीन करने वाली एक सशक्त क्रिया है। बहुत से त्राटक के अभ्यासियों का कहना है कि आप त्राटक के द्वारा वह सभी कुछ प्राप्त कर सकते हैं जो अष्टांग योग की पूर्ण साधना में प्राप्त किया जा सकता है। क्योंकि त्राटक भी ध्यान का ही एक प्रकार है, किन्तु सरल इतना कि बिना किसी कठिनाई के शीघ्र ही समाधि की अवस्था में पहुँचा सकता

है। काम–वासना के साथ त्राटक का संयोग उसके रूपांतरण में एक सबल उपाय सिद्ध होता है।

काम-शक्ति का जागरण

भोग और योग में बुनियादी अन्तर नहीं

कामशक्ति है क्या वस्तु? इस विषय में भोगियों और योगियों के दृष्टिकोणों में भिन्नता है। एक का दृष्टिकोण सीमित है तो दूसरे का व्यापक है। एक के दृष्टिकोण में लौकिकता है तो दूसरे के में अध्यात्म। इन दृष्टिकोणों में उतना ही अन्तर है जितना पिण्ड और ब्रह्माण्ड में जितना आत्मा और परमात्मा में।

बुनियादी अन्तर नहीं है इनमें। जो भोग है, वह योग के माध्यम से अध्यात्म का रूप ले सकता है। जो ब्रह्माण्ड में है, वही पिण्ड में है, सभी एक ही पद्धति से बने हुए हैं, सभी में एक ही सामग्री (मैटेरियल) लगी है। पञ्चतत्वात्मक दोनों ही हैं। किन्तु आत्मा और परमात्मा इनसे भिन्न हैं, विजातीय हैं। आत्मा परमात्मा का ही अंग है। वह भी असीमित और वह भी। किन्तु माया के आवरण ने एक को सीमित जैसा कर दिया हैं। लगता है वह शरीर में बँध गया हो, जबकि दूसरा (परमात्मा) माया–रहित है, इसलिए सीमित जैसा प्रतीत नहीं होता।

भोगवाद ऐसे किसी पचड़े में नहीं पड़ना चाहता, जिसमें काम शक्ति के विषय में सोचना या जानना अपेक्षित हो। उसकी रुचि भोगने में है, उसकी शक्ति परखने में नहीं। क्योंकि भोग में सुख है, चाहे वह क्षणिक ही हो, जबकि शक्ति परखने के लिए बुद्धि लगानी होगी और उसकी लाभ–हानि को सोचना समझना होगा। कौन करे ऐसी माथा-पच्ची ?

अध्यात्म ने इसका गहन अध्ययन किया है, नकारात्मक दृष्टि से नहीं, सकारात्मक दृष्टि से। अध्यात्म प्रकृति को चुनौती नहीं देता। वह जानता है कि प्रकृति का जो कार्य है, वह होना ही है, उसमें बाधा कोई नहीं डाल सकता। परमात्मा भी प्रकृति के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करता, यदि करे तो उसका स्वयं का विधान ही बदल जाय, और यदि विधान बदल गया तो सृष्टि चलेगी ही कैसे ?

भोगवाद ने स्त्री पुरुष को रचनाकार माना है और रज-वीर्य को उसका साधन। कामोपभोग की क्रिया उसके लिए उसी प्रकार अपेक्षित है, जैसे भूख लगने पर भोजन। किन्तु यदि भूखे को भोजन न मिले तो शरीर की शक्ति घटेगी जबकि समागम का अवसर न मिलने पर शारीरिक शक्ति का ह्रास नहीं होगा। ब्रह्मचर्य का यही सिद्धांत है और ब्रह्मचारियों में जो तेज दिखाई देता है, वह शुक्र-रक्षा के ही कारण है। योगियों का मत है कि बिन्दु (वीर्य) की रक्षा ही जीवन है और बिन्दु-नाश मृत्यु है। इसलिए बिन्दु को नष्ट नहीं करना चाहिए।

परन्तु भोगवादियों ने अनेक तर्क दिए हैं इसके विपक्ष में। उनका मत है कि काम वासना का दमन मनुष्य के शारीरिक ह्रास का कारण है, उसके फलस्वरूप क्लैब्य तक की उत्पत्ति हो सकती है। मानसिक अवसाद की उत्पत्ति में भी वह एक सहायक साधन बन सकता है।

इसलिए काम वासना का दमन अनुचित ही नहीं, मानसिक और शारीरिक दोनों ही दृष्टियों से हानिकारक है।

चिकित्सा शास्त्री इसमें कुछ संशोधन करते हैं। उनके विचार में काम वासना की तृप्ति तो आवश्यक है, किन्तु संयमित रूप से। हर समय के काम-चिन्तन से बचना चाहिए, जिससे कि मन शुद्ध रहे। यदि मन शुद्ध रहेगा तो शारीरिक स्वास्थ्य भी बना रहेगा।

प्रकृति रयि और पुरुष प्राण

अध्यात्म ने सृष्टि की उत्पत्ति तो इसी प्रकार मानी है, किन्तु वह अपनी दृष्टि में व्यापकता लाने के लिए लौकिक मान्यताओं में परिवर्तन करता है। उसके मत में सृष्टि का आरम्भ प्रकृति-पुरुष के सम्मिश्रण से हुआ है, क्योंकि प्रकृति शक्ति और पुरुष शिव है। अध्यात्म-विज्ञान के शब्दों में प्रकृति रयि और पुरुष प्राण है। वेदों ने प्रकृति पुरुष को ही सोम और अग्नि नाम दिया है। जीवन यज्ञ में वे ही स्वाहा और स्वधा है। सांख्यकार कहते कि 'तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम्' (सांख्य १।५५) अर्थात् 'प्रकृति और पुरुष का संयोग अज्ञान के कारण होने से उनमें समानता नहीं मानी जा सकती।'

यद्यपि संसार प्रकृति और पुरुष के संयोग से बना है, किन्तु उनमें समानता नहीं हो सकती। प्रकृति जड़ है और पुरुष चेतन, सांख्य ने ही उसे सत्व, रज और तम तीनों की साम्य अवस्था कहा है। उसी से महत्तत्व की उत्पत्ति है। महत्तत्व से अहंकार, अहंकार से पंच तन्मात्राएँ और ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय, तन्मात्राओं से स्थूल भूत समुदाय और पुरुष इस प्रकार सांख्य मतानुसार पच्चीस तत्वों का समुदाय है।

और चेतन, अचेतन रूप प्रकृति-पुरुष का संयोग अनादिकाल से चला आ रहा है। इनके संयोग में ही उद्भव है, सृजन का अभिप्राय सन्तानोत्पत्ति से ही पूर्ण नहीं हो जाता। क्योंकि सन्तानोत्पत्ति तो

विश्व का एक तुच्छ सा कार्य है यदि मनुष्य इसी में लगा रहे तो आत्म विकास के लिये कब प्रयत्नशील होगा ?

आधुनिक विज्ञान ने विद्युत् के दो प्रकार के प्रवाह बताए हैं—(१)—नैगेटिव अर्थात् ऋण, और (२)—पॉजीटिक अर्थात् धन। विद्युत्र का उद्भव तभी हो सकता है जब यह दोनों प्रवाह मिलते-बिछुड़ते रहें। विद्युत्-शक्ति का प्रयोग इन दोनों के बिना सम्भव नहीं।

इसी प्रकार नारी और नर के मिलन बिना प्रजोत्पादन की क्रिया नहीं हो सकती। हम यहाँ नारी को प्रकृति और नर को परमात्मा मान कर चल सकते हैं। यह संयोग शारीरिक दृष्टि से ही इस रूप मान्य है। जैविक दृष्टि से तो जो आत्मा स्त्री में है, वही पुरुष में है। परमात्मा एक है, वही नारी रूप में प्रतिष्ठित है, वही पुरुष रूप में। वह जब सर्ग की इच्छा करता है तब वह स्वयं ही अनन्त रूप धारण कर लेता है। आरम्भ में उसे ब्रह्मा, विष्णु, शिव रूप में व्यक्त होना होता है, यह सगुण ब्रह्म के उपासकों की मान्यता है। निर्गुण ब्रह्म के उपासकों की मत में सृष्टिकर्ता होने के कारण उसी परमात्मा का नाम ब्रह्मा होता है, स्थितिकाल में विष्णु कहलाता है और प्रलय काल में वही शिव अथवा रुद्र। यह सभी नाम उसके कार्य-कलापों को ही व्यक्त करते हैं, स्वरूप को नहीं। क्योंकि ब्रह्म निर्गुण है तो उसका कोई रूप नहीं हो सकता।

कुछ आचार्यों ने परब्रह्म सम्बन्धी तथ्य को अधिक समझाने की दृष्टि से समस्त नर-नारी समुदाय को एक ही परमात्मा का रूप माना है। रुद्रहृदयोपनिषद् ने "पुल्लिङ्गं सर्वमीशानं स्त्रीलिंगं भवत्युमा" कहकर स्पष्ट किया है कि सृष्टि में जितने भी प्राणी पुल्लिग रूप है, वे सब रुद्र हैं और जितने भी स्त्रीलिंग रूप हैं, वे सभी उमा हैं। इसी उपनिषद् में यह भी कहा है—

उमारुद्रात्मिका सर्वा प्रजाः स्थावरजङ्गमा ।
व्यक्तं सर्वमुमारूपमव्यक्तं तु महेश्वरम् ।
उमाशङ्करयोर्योगः स योगो विष्णुरुच्यते ।।

अर्थात्—यह समस्त स्थावर-जंगम रूप सृष्टि उमा और रुद्र रूप ही है। अव्यक्त संसार रुद्र रूप और व्यक्त संसार उमा रूप है। उमा और शङ्कर दोनों का मलना ही विष्णु रूप कहलाता है।

वस्तुतः यह सृष्टि का ही रहस्य है जो रुद्रहृदयोपनिषत्कार ने उक्त शब्दों में व्यक्त किया है। वेदी उमा है और शिव यज्ञ। इस प्रकार वेदी और यज्ञ रूप में भी सृजन क्रिया का ही सङ्केत मिलता है। किन्तु समझना चाहिए हमें इस रहस्य को, कहीं उन्हें अर्थ और अक्षर रूप, कहीं दिवस रात्रि रूप, कहीं वृक्ष और लता रूप तो कहीं लिंग और पीठ रूप कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि काम की प्रक्रिया शाश्वत है, अनादि है और अनन्त भी है। उसे किसी सीमा में नहीं बाँधा जा सकता, वह सत्य है. उसे कभी असत्य नहीं कहा जा सकता।

भोगवाद की नाशवान काम प्रक्रिया

परन्तु भोगवाद की भित्ती पर टिकी हुई काम-प्रक्रिया उससे भिन्न है, नाशवान है। इसलिए सत्य भी नहीं हो सकती। संसार को कुछ लोग सत्य मानते हैं तो कुछ मिथ्या। सत्य मानने वालों का कहना है कि नाश किसी पदार्थ का नहीं होता, वह छिपता और प्रकट होता रहता है। सृष्टि काल में जो विश्व उत्पन्न हुआ सा दिखाई देता है, वह वस्तुतः उत्पन्न नहीं होता, व्यक्त होता है। प्रलय काल में जो नष्ट होता सा प्रतीत होता है, वह नष्ट नहीं होता, लीन हो जाता है, छिप जाता है, अव्यक्त हो जाता है।

सर्ग-विज्ञान की दृष्टि से पति-पत्नी संयोग के बिना सृष्टि उत्पन्न नहीं हो सकती। शिवोपासक मानते हैं कि इसीलिए भगवान् शङ्कर

को अर्द्ध नारी स्वरूप रखना पड़ा। स्मृति ग्रन्थों के अनुसार आज भी स्त्री को पुरुष का अर्द्धांग माना जाता है। यदि ऐसी मान्यता को तथ्य हीन कह दिया जाय तो सामाजिक व्यवस्था में तो व्यवधान पड़ ही सकता है। उसका प्रभाव सन्तान पर भी कुछ अनुकूल नहीं पड़ सकता।

वस्तुतः संयोग की यह क्रिया सृष्टि के क्रिया-कलाप का स्थूल रूप से अनुभव कराती है। काष्ठ को काष्ठ पर रगड़ने से अग्नि उत्पन्न होने की बात प्राचीन काल से चली आ रही है। आज भी नाचिस की डिब्बीपर लगे रासायनिक पदार्थ पर तीली का रासायनिक पदार्थ वाला सिरा रगड़ने पर आग जल सकती है। यह रगड़ का, घर्षण का महत्त्व है। काम संयोग भी इसी भित्ती के सहारे टिका हुआ है।

जीवन की क्रियाशीलता माँस पेशियों के सिकुड़ने फैलने पर निर्भर है। यदि यह क्रिया न होती रहे तो गतिशीलता का ही लोप हो जाय। किसी पक्षाघात (लकुवा) के रोगी के उस अङ्ग को देखिए, जो लकुवे से अक्रान्त हो चुका हो, उसमें उसी गतिशीलता का अभाव दिखाई देगा।

मनुष्य की श्वास-निःश्वास की प्रक्रिया में भी यही सब कुछ है। नाड़ियों में रक्त-सञ्चार, हृदय की धड़कनें तथा विभिन्न कोशिकाओं के क्रिया कलापों की निर्भरता भी इसी आकुञ्चन- प्रसारण की क्रिया पर है। यह प्रक्रिया सामान्य रूप से सभी में कार्य करती है। इसके बिना यह संसार चल ही नहीं सकता।

मनोवैज्ञानिकों के मत में भोजन की भूख से भी अधिक महत्व काम की भूख का है। उसकी तृप्ति हुए विना मनुष्य का मानसिक विकास रुक जाता है। फ्रॉयड मानता है कि सभी प्रकार का

विकास स्त्री पुरुष के संयोग पर निर्भर है। उसमें किसी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होनीं चाहिए। इस देश में भी बहुत से व्यक्ति अपने अनुभवों द्वारा इस मान्यता को बहुत कुछ ठीक मानते हैं।

और इससे इन्कार भी कैसे किया जा सकता है कि कामोपभोग मनुष्यों की सबसे बड़ी आवश्यकता है। तान्त्रिकों ने भी इसी आवश्यकता को नकारा नहीं हैं, वरन् वे तन्त्र साधना में सिद्धि प्राप्त करने के लिए माध्यम रूप में स्त्री का होना आवश्यक ही मानते हैं।

किन्तु किसी कार्य में अति सर्वत्र वर्जित है। अति ही उसका दुरुपयोग है। दुरुपयोग में जाने अनजाने विकृतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। परन्तु ऐसे बहुत कम व्यक्ति मिलेंगे जो सदुपयोग या दुरुपयोग के विषय में अपेक्षित रूप से विचार करते हों। उनकी इन्द्रिय लोलुपता उन्हें इसे नहीं रहने देती, क्योंकि उस स्थिति में विवेक का लोप हो जाता है। उसे दिखाई देता है वही भोग, जिसकी चाहना है उसे। बहुत से व्यक्ति तो दिन रात उसी में मोहित से रहे आते हैं।

मोहित होने का अर्थ है—यथार्थता के प्रति विपरीत स्थिति। जहाँ मोह है, वहाँ यथार्थता कहाँ? मोह तो स्वयं ही असत्य से उत्पन्न होता है, उसमें मिथ्यात्व ही मिथ्यात्व है। केवल यही चाहना रहती है कि इन्द्रिय जो चाहती है वह मिले, किसी भी प्रकार मिले। और उस मिलने की चाह में आपे को ही भूल जाता है।

किसी भी वस्तु का दुरुपयोग अच्छा कहीं होता। कोई कहे कि शरीर के लिए जो वस्तु हितकर है, उसका अधिक सेवन तो हितकर ही रहेगा। 'अधिकस्य अधिकम् फलम्' की उक्ति केअनुसार अधिक सेवन का फल भी अधिक होना चाहिए।

किन्तु ऐसा तर्क प्रस्तुत करने वाले व्यक्ति शायद यह नहीं सोचना चाहते कि हितकर दवा का प्रयोग भी तभी तक किया जाना चाहिए, जब तक उसकी आवश्यकता ही हो। विभिन्न विटामिन शरीर के लिए शक्तिप्रद और बलदायक होती हैं, किन्तु अनावश्यक रूप से उनका प्रयोग भी हानिकारक हो जाता है। किसी को विटामिन डी की आवश्यकता है और उसे आप डी न देकर सी देने लगें तो कोई लाभ नहीं हो सकता। वरन् सी के सेवन से तो हानि हो ही सकती है और डी की कमी भी हानिकर होगी ही।

इस प्रकार विष का दुरुपयोग हानिकारक है तो अमृत का दुरुपयोग भी लाभदायक नहीं हो सकता। सभी कुछ अपेक्षित मात्रा में ही हितकर होता है। यही बात काम-वासना के विषय में समझनी चाहिए. उसका दुरुपयोग निश्चय ही अत्यन्त घातक होता है।

प्रतिबन्धित कामोपभोग

परन्तु, इस प्रकार के दुरुपयोग की प्रवृत्ति में एक मुख्य कारण उसके कामोपभोग में प्रतिबन्ध का होना भी है। उसे जितना ही अधिक प्रतिबन्धित किया गया है, उतनी ही उसके दुरुपयोग की प्रवृत्ति बढ़ती गई है। कुछ सदियों से नारी को घर के भीतर अधिक से अधिक बन्द रखने का प्रयत्न किया जाता रहा है। यद्यपि उसका कुछ उचित कारण भी था। यवन शासन काल में यह समझा जाता रहा कि स्त्री का घर से बाहर निकलना सुरक्षित नहीं है। किन्तु आज वह स्थिति नहीं है। वर्तमान समय में महिलाओं के लिए उस प्रकार का कोई भय शेष नहीं रहा है।

इसलिए इस युग में उस प्रकार से स्त्री पुरुष का मिलन न तो उतना प्रतिबन्धित है और न होना चाहिए। प्रवृत्ति-दोष ने स्त्री के अंगों को छिपाए रखने का अधिकाधिक निर्देश दिया है, जबकि वास्तविकता

यह है कि उन अंगों को देखकर काम-विकार की उत्पत्ति नहीं होनी चाहिए। आदिवासी महिलाएँ प्रायः अर्द्धनग्न अवस्था में रहती हैं, उन्हें देख कर किसी के मन में काम-विकार उत्पन्न होने की बात नहीं सुनी जाती।

वस्तुतः इस प्रकार की भावना यदि रहती है तो वह दूषित ही कही जायगी। उस भावना को बदलना बहुत आवश्यक है। स्त्री में जहाँ पत्नित्व के दर्शन होते हैं, वहाँ मातृत्व के भी होते हैं। आज की कन्या कल किशोरावस्था प्राप्त करके पत्नी बनेगी बनेगी, तब उसमें मातृत्व भी जाग्रत् होगा। यह प्राकृतिक प्रक्रिया सदा से चली आ रही है।

किन्तु स्त्री के विभिन्न अंगों के दर्शन मात्र से कामुक विचारों का उत्पन्न होना, काल-प्रभाव वश मानसिक विकृति का ही एक लक्षण है। यदि पुरुष समाज अपना उत्थान चाहता है तो उसे अपनी इस प्रकार की प्रवृत्ति में सुधार लाना चाहिए।

जब तक मानव-मस्तिष्क इन मानसिक विकृतियों का शिकार रहेगा, तब तक आत्म-कल्याण के प्रयत्न में न तो लगेगा और न सफल ही होगा। इसलिए आज प्रबुद्धजन यह मानने लगे हैं कि सर्व प्रथम हमें इसी ओर ध्यान देना चाहिए।

किन्तु रूढ़िवादी विचारधारा के लोग अभी भी इसके पक्ष में नहीं हैं कि स्त्री को जो स्वच्छन्दता आज के युग में प्राप्त होती जा रही है, वह मिलनी ही चाहिए। कुछ अंशों में उनका सोचना व्यर्थ भी नहीं है, क्योंकि वर्तमान नारी वेश-भूषा अर्द्धनग्नता से कुछ आगे ही बढ़ गई है और उस अर्द्धनग्नता को भी कुछ इस प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है कि उससे कामाग्नि भड़क उठे। समानता के नाम पर किया जाने वाला प्रदर्शन चाहे स्त्री को अत्याधुनिका भले ही सिद्ध करता हो, किन्तु उससे न तो उसका स्वयं का हित है और न पुरुष जाति का ही।

हम जिस सात्विकता की बात कहते रहे हैं, इस प्रकार के वेष-भूषा प्रदर्शन में उसका अभाव ही मिलता है। आज की महिला रजोगुण और तमोगुण को अधिक समेट लेना चाहती है। उसके आचार-विचारों में भी आज वैसा ही परिवर्तन दिखाई देने लगा है और वह बढ़ती जा रही है एक ऐसी दिशा में, जिसका कहीं अन्त नहीं, छोर नहीं और उस अन्त रहित या छोर-रहित स्थिति में शारीरिक थकान और मानसिक खेद भर गया है। वह आज पुरुष के प्रति अनुदार हो चली है, घृणा करने लगी है उससे, किन्तु क्या उस अनुदारता या घृणा में कोई ऐसा तथ्य निहित है जो लोक-कल्याण में सहायक हो सके।

और पुरुष-वर्ग ? वह भी असहाय सा झेले जा रहा है उस स्थिति को। उसके पास भी कोई उपाय नहीं है उस प्रगति के नाम पर उत्पन्न हुई स्थिति पर काबू पाने का। यदि विचार पूर्वक देखें तो उसका बहुत कुछ उत्तरदायित्व स्वयं उसी पर है। उसी ने उसे उस प्रकार का मार्ग दिखाया और उसी ने उसे उस मार्ग पर चलने को विवश किया। यदि आज की नारी टकराव की स्थिति उत्पन्न करना चाहती है तो उसमें जितना दोष उसका प्रतीत होता है, उससे कम दोष पुरुष का भी नहीं है।

ज्ञान जीवन, अज्ञान मृत्यु

क्यों हुआ यह सब ? इसीलिए कि हम भौतिकवाद की ओर अधिक बढ़ गए। हमने नैतिक मूल्यों को तिलाञ्जलि देकर अध्यात्म को पीछे फेंक दिया और भोग को बढ़ा दिया। अग्नि में घी डालते रहेंगे तो उसका तेज बढ़ता रहेगा, प्रकाश बढ़ता रहेगा, शक्ति बढ़ती रहेगी। ज्ञान का आश्रय छोड़ देने पर अज्ञान का ही आश्रय लेना होता है। ज्ञान विवेक है, धर्म है, सत्य है और जीवन भी वही है। इसके विपरीत अज्ञान में वृद्धि नहीं रहती, धर्म का अभाव हो जाता है, असत्य का पर्दा पड़ने

पर मनुष्य की यथार्थ दृष्टि बन्द हो जाती है, इसीलिए विद्वानों ने अज्ञान को मृत्यु कहा है।

इस प्रकार भौतिकवाद सही माने में तो नश्वरता का वाद है। उसमें जीवन की अपेक्षा मृत्यु के तत्व अधिक बढ़ जाते हैं। उसे दिखाई नहीं देता मार्ग में उपस्थित हुआ गहरा गर्त और वह बढ़ा चलता है। आँखें बन्द करके बढ़ेगा तो गर्त में गिरे बिना कैसे रहेगा ?

मनुष्य चाहे तो अपने विवेक को जाग्रत् कर सकता है ज्ञान के माध्यम से। क्योंकि अज्ञान और कुबुद्धि का नाश ज्ञान से ही सम्भव है। मनुष्य तो क्या देवताओं को भी वही करना पड़ा है। जब अज्ञाना-न्धकार के जनक कामदेव ने शिवजीपर आक्रमण किया तो उनकी मान-सिक प्रक्रिया ही बदल गई। जब मन में क्षोभ उत्पन्न हो जाता है तब अशान्ति उत्पन्न होना तो स्वाभाविक है ही। शिवजी ने देखा कि काम रूपी दुर्वासना बढ़ रही है तो ज्ञान का आश्रय लिया। उस ज्ञान रूपी नेत्र के खुलते ही कामदेव भस्म हो गया।

यद्यपि यह पुराण-प्रसिद्ध कथा है, जिससे काम-वासना से निपटने की अच्छी शिक्षा मिलती है। किसी भी वासना का दमन बलपूर्वक नहीं किया जा सकता, वरन् उस स्थिति में यदि विवेक बुद्धि से काम लिया जाय तो उसमें निहित अच्छे-बुरे परिणाम की जानकारी हो सकती है। शिवजी ने वासना का दमन तो किया, किन्तु विवेक रूप तृतीय नेत्र के द्वारा। इससे हम सहज ही समझ सकते हैं कि ज्ञान के बिना हम किसी भी दुष्प्रवृत्ति पर विजय प्राप्त करने में सफल नहीं हो सकते।

ज्ञान ही सदाचार की उत्पत्ति में सहायक है। योगियों ने सदाचार को यम-नियमों के अन्तर्गत रखकर उसके महत्व को अधिकाधिक रूप में

स्वीकार किया है। षट्कर्म पालन की क्रिया दैहिक होते हुए भी सदाचार पालन की दिशा में आगे बढ़ाती है। परन्तु वर्तमान समय में किसी प्रक्रिया के मूल्याङ्कन की प्रवृत्ति में अनेक बाधाएँ उपस्थित हो गई हैं।

मनोवैज्ञानिकों ने काम-वासना को प्रकृति के अधिक निकट माना है और इसी मान्यता को सुदृढ़ करते हुए वे उसमें उत्पन्न उच्छृङ्खलता को नजर अन्दाज करते जा रहे हैं। उनके विचार में उसमें निहित उछृङ्खलता भी अस्वाभाविक नहीं है।

किन्तु उच्छृङ्खलता सदाचार को ताक में उठाकर रख देती है। काम-वासना की उच्छृङ्खलता के हिमायती मनुष्य यौन-सदाचार को भी कोई महत्व नहीं देते। उनके विचार में यौन-सदाचार जैसी कोई वस्तु है ही नहीं और यदि हो भी तो उसका कोई महत्व नहीं हो सकता है।

और यही मान्यता मनुष्य को विकार-ग्रस्त कर देती है। आज का मनुष्य तनाव ग्रस्त स्थिति में रहता हुआ जीवन व्यतीत कर रहा है। पाश्चात्य देशों में तनाव-ग्रस्त व्यक्तियों की चिकित्सा भी कुछ विलक्षण ढंग से ही की जाती है। एक बार समाचार पत्रों में पढ़ा गया था कि उन चिकित्सा केन्द्रों में ऐसे कक्ष होते हैं, जिसमें स्त्री-पुरुष नग्नावस्था में पड़े रहते हैं। पता नहीं इस प्रकार के उपचार से उन्हें कितने प्रतिशत शांति मिलती है।

परन्तु इन सभी उपचारों का आविष्कार भौतिक वादी दृष्टिकोण के आधार पर हुआ है। आज हमारे देश के स्त्री-पुरुष भी पाश्चात्य देशों के अनुकरण में अपनी सुख, शान्ति और मान-सम्मान को निहित देखते हैं, फिर चाहे उसमें उनका पतन ही क्यों न निहित हो।

यौन-सदाचार का उद्देश्य

इस दृष्टिकोण से ऊपर उठकर देखें तो समझ में आएगा यौन-सदाचार का हितकारी उद्देश्य। इस पर विचार किया है योग ने, धर्म ने, अध्यात्म ने, और निष्कर्ष रूप में पाया है कि उसके पालन से हम उन उपलब्धियों के स्वामी बने जिनकी सामान्य रूप से कल्पना भी नहीं की जा सकती।

यौन-सदाचार का भावनात्मक रूप से विकास किया जाना चाहिए। केवल उसके पालन करने मात्र से कार्य नहीं चलेगा। आप दिखावे के लिए पालन करते रहें उसे, किन्तु भावनात्मक रूप से उसके प्रति विश्वास न हो तो, वह भावना किसी दिन पतन का कारण हो सकती है।

यदि भावनात्मक विकास हो तो हम समझ सकते हैं कि नारी भोग्या ही नहीं है, पालन करने वाली भी है। हम उसे माता, बहिन और पत्नी के रूप में क्यों नहीं देख सकते? क्या कोई पुत्र अपनी माता के प्रति श्रद्धा भाव नहीं रखता? क्या कोई भाई अपनी बहिन के प्रति निश्छल प्रेम-धारा नहीं बहाता? क्या कोई पिता अपनी पुत्री को पवित्र भाव से नहीं देखता? अपवाद रूप में उन नर पिशाचों की बात छोड़ दीजिए जो नैतिकता को निरर्थक मानकर पतन के गहरे गर्त में गिर चुके हैं, हम यहाँ सहज रूप से मनुष्य के विषय में ही चर्चा कर रहे हैं।

यदि हम माता, बहिन और पुत्री के प्रति वासना रहित भावना रख सकते हैं तो अन्य स्त्रियों के प्रति क्यों नहीं रख सकते? पत्नी भी

भोग्या उसी समय के लिए है, जब यौन-सदाचार के पालन में तत्पर रहकर संयमित रूप से उससे संसर्ग स्थापित किया जाय। हर समय उसे भी भोग्या मान लेना किसी प्रकार भी नैतिकता की परधि में नहीं आता।

कुछ कवियों ने, महात्माओं ने स्त्री को नरक की खान तक कह डाला है। हो सकता है कि उनके वर्णनात्मक प्रसङ्ग में ऐसी बात कहना अपेक्षित रहा हो, किन्तु है वह अतिशयोक्ति ही। पुरुष की उत्पत्ति स्त्री से ही होती है और यदि स्त्री नरक की खान है तो पुरुष में भी नरक का कुछ अंश तो अवश्य ही होना चाहिए।

इस प्रकार स्त्री की निन्दा का कोई आधार प्रतीत नहीं होता है। स्त्री माता है तो करक की खान कैसे हो सकती है ? जिसने उसे नरक की खान बताया उसे भी नरक का कीड़ा तो कहा ही जा सकता है। स्त्री बहिन या पुत्री है तो भी उसे नरक की खान कहना अपनी ही भ्रांति का परिचय देना है।

सरस्वती, लक्ष्मी, पार्वती, दुर्गा, सीता आदि देवियाँ स्त्री ही थीं। संसार में और भी अनेकों सदाचारिणी विदुषियाँ हुई हैं, कोई कह सकता है कि उनका नरक से कभी किसी प्रकार का सम्बन्ध रहा होगा। समस्त धार्मिक प्रवृत्ति के मनुष्यों, भक्तों, साधकों आदि की उन्मुक्त श्रद्धा उनके प्रति रही है। आज भी उनकी प्रतिमा-प्रतीकों के दर्शनार्थ मनुष्यों की भीड़ लगी रहती है।

यदि स्त्रियाँ नरक की खान हैं तो उनके दर्शनार्थ इतनी तगड़ी भीड़ क्यों ? किसी प्रामाणिक धर्म ग्रन्थ ने नारी के अस्तित्व का ऐसा स्वरूप चित्रित किया हो, यह समझ में नहीं आता। वरन् इस मान्यता के विपरीत शास्त्र-व्यवस्था तो अवश्य देखने में आती है, यथा—यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता अर्थात् 'जहाँ नारियों की पूजा होती है, देवता वहीं रमण करते हैं।

इसलिए आवश्यकता इस बात की भी है कि स्त्री के प्रति जो मिथ्या धारणा बन गई है, उसे दूर किया जाय। जब तक उस प्रकार की धारणा रहेगी, मनुष्य जाति का सामाजिक और आध्यात्मिक रूप से विकास नहीं हो सकता। इस प्रकार की धारणा स्त्रियों को ही लांछित नहीं करती, पुरुषों पर भी उतना ही लांछन लगाती है।

विल्वमङ्गल का वृत्तान्त

स्त्रियों को लाञ्छित करने की अपेक्षा अपनी लाञ्छन वाली मनोवृत्ति में बदलाव आवश्यक है। यदि कोई पुरुष किसी स्त्री के रूप–यौवन को देखकर मोहित हो जाता है तो इसमें दोष किसका है? स्त्री का अथवा पुरुष का? स्त्री रूपवती है तो यह उसके लिए प्रकृति की देन है, वह उस रूप को अपने से किस प्रकार और क्यों दूर करे? यदि पुरुष को उसका रूप देखकर टीस होती है तो उसी को चाहिए कि अपनी आँखें फेर ले उसकी ओर से, उसे कुदृष्टि से देखने की चेष्टा ही न करे तो समस्या सहज में ही सुलझ जायगी।

आपने सूरदास विल्वमंगल का वृत्तांत शायद सुना हो। विल्वमंगल ने घर-द्वार छोड़ दिया। वह वैरागी हो गया, भक्ति में लीन, चल पड़ा संन्यासियों के मार्ग पर।

संन्यासी होना तो अधिक कठिन नहीं,यदि कठिनहै तो उसके नियमों का पालन करना। संन्यासी को काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग, द्वेष, अहङ्कार, भय, शोक आदि से उन्मुक्त रहना चाहिए। विल्वमंगल ने भी उसके पालन की प्रतिज्ञा की।

एक दिन एक अतिथि–पूजक ने विल्वमंगल को आतिथ्य ग्रहण करने का निवेदन किया। संन्यासियों का नियम रहा है कि मार्ग चलते–चलते यदि सन्ध्या होने लगे तो उस समय जो बस्ती मिले, उसमें किसी सद्गृहस्थ का आतिथ्य स्वीकार कर लें। विल्व–

मंगल ने भी उस अतिथि-पूजक गृहस्थ का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया।

गृहस्थ की युवा सुन्दरी पत्नी, एकान्त स्थान, उसके विनीत मधुर वचनों ने विल्वमंगल को अपनी ओर आकर्षित किया। उनकी वासना भड़क उठी और वे उससे प्रणय निवेदन करना चाहते ही थे कि विवेक बुद्धि जाग्रत् हो गई। उन्होंने उस गृहिणी से कहा—'सुमुखि ! मुझे एक वस्तु चाहिए, क्या तू दे सकेगी ?'

गृहिणी आशङ्कित हो उठी, न जाने संन्यासी क्या माँग बैठे ? फिर भी उसने धैर्यपूर्वक पूछा—'क्या चाहिए आपको ?'

विल्वमंगल बोले—'दो सूए।'

आश्चर्य से पूछा उसने—'सूए ? वह भी दो ? उनका क्या करेंगे आप ?'

विल्वमंगल ने कहा—'क्या करूँगा, यह बताना आवश्यक नहीं है। यदि दे सको तो दे दो, अन्यथा मैं जाता हूँ।'

गृहिणी ने बड़ी कठिनाई से रोका। उनका कहना था कि पहिले सूए, लाकर दो, फिर भोजन करूँगा।'

बेचारी ने विवश होकर कहीं से दो सूए मँगाकर दिए। विल्वमंगल ने उनमें से एक एक को दोनों हाथों में थाम लिया और गृहपत्नी के देखते-देखते उनसे अपनी दोनों आँखें फोड़ लीं। गृहपत्नी चीत्कार कर उठी। लोगों ने समझा कि उसके साथ कोई अघटित घटना हुई है, इस लिए दौड़े-दौड़े वहाँ आ गए। गृहपति भी तुरन्त भीतर आ पहुँचा। अच्छी-खासी भीड़ लग गई वहाँ।

सब ने देखा संन्यासी की दोनों आँखों से रक्त बह रहा है। किसी को भी यह समझते देर न लगी कि संन्यासी अपनी आँखें स्वयं फोड़ ली हैं, क्योंकि उनके हाथों में रक्त रञ्जित सूए अभी तक लगे थे। लोगों ने उन्हें तुरन्त संभाला और मरहम पट्टी कर विश्राम की व्यवस्था की।

फिर आग्रह पूर्वक दुग्धादि का आहार देकर उनसे पूछा—'महाराज ! आपने ऐसा क्यों किया ? क्या इसमें महिला का कोई दोष था ?'

विल्वमङ्गल बोले—'यह महिला तो देवी है। मैंने ही कुवासना के वशीभूत होकर इस पर कुदृष्टि डाली थी। किन्तु मेरे विवेक ने समय पर सहायता की और अपनी आँखें फोड़ लेने का निश्चय किया। मैंने इसीसे सूए माँगे तो आश्चर्य में पड़ गई, किन्तु मेरा हठ देखकर वेचारी ले आई।'

सभी उपस्थित मनुष्य विल्वमङ्गल की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करने लगे। वस्तुतः यह था भी प्रशंसा का ही कार्य। भला स्त्री के सम्मान की रक्षा और अपने संन्यास धर्म की रक्षा का इससे उत्तम और कौन-सा उपाय हो सकता था ?

हम नहीं कहते कि सभी विल्वमङ्गल वन जाएँ। वरन् हमारा मन्तव्य यह है कि सभी को विल्वमङ्गल के सदाचरण से प्रेरणा लेनी चाहिए। वे किसी स्त्री स्त्री-समूह में उपस्थित रह कर सहकार्य करना चाहते हैं तो करें, इसमें किसी प्रकार की वाधा का कोई प्रश्न नहीं होना चाहिए। किन्तु आवश्यकता इस वात की है कि हम उस स्त्री समूह में से किसी को भी वासना की दृष्टि से न देखें। यदि हम अपने में इतना आत्मवल अर्जित नहीं कर सकते तो हमें को अधिकार नहीं है उनके साथ सहकार्य करने का।

यदि इन तथ्यों पर ध्यान दिया जाय तो हमारी काम वासना के रूपान्तरण में वहुत कुछ सहायता मिल सकती है। यदि हम अपने को असंयत चित्त पाते हैं, तो उसकी स्थिरता के लिए योग-साधनों को सम्वल वना कर चलना चाहिए। उन साधनों में केवल त्राटक के अभ्यास से ही आप वहुत कुछ प्राप्त कर लेने में समर्थ हो सकते हैं।

— —

त्राटक योग द्वारा काम रूपान्तरण

शक्ति और उसका निरूपण

शक्ति के अनेक अभिप्राय हो सकते हैं—बल, ओज, शौर्य, ऊर्जा आदि। इसके बिना न तो शरीर कुछ कर सकता और न मस्तिष्क ही यहाँ तक कि परमात्मा को भी उसकी आवश्यकता होती है, क्योंकि परमात्मा स्वयं तो कुछ करता नहीं, उसे कार्य लेना होता है तब शक्ति को ही याद करता है। इसीलिए परमात्मा को शक्तिमान कहते हैं। यदि शक्ति न हो तो शक्तिमान भी कुछ नहीं कर सकता।

शक्ति परमात्मा में ही नहीं, उसके अंशभूत देहधारियों में भी है। मनुष्य में शक्ति की विद्यमानता अन्य जीवों की अपेक्षा अधिक निखरे रूप में रहती है। परन्तु मनुष्य सांसारिक झञ्झटों में ऐसा फँसा रहता है कि उसे उसका अनुभव नहीं होता। वह समझ नहीं पाता कि मेरे में पर्याप्त शक्ति विद्यमान है, उसके बल पर मैं चाहे वह कर सकता हूँ। किन्तु भूला रहता है हनुमानजी की तरह। हनुमानजी को तो याद दिलाने पर बल का पुनर्स्मरण हो जाता था, किन्तु मनुष्य को कितना भी कहिए कि 'भई ! तू तो शक्तिमान है, उससे काम ले' किन्तु वह नहीं सुनता। फिर सुने भी कहाँ से ? उसे स्वयं ही विश्वास नहीं है अपने ऊपर।

रामायण कहती है—राम में बड़ी शक्ति थी, लक्ष्मण भी कम शक्तिशाली नहीं। हनुमान तो बस हनुमान थे हो जिन्हें बल के निधान

समझा जाता है। रावण भी महा बलवान था। अभिप्राय यह है कि दोनों ही पक्ष के प्रमुख-प्रमुख शक्ति सम्पन्न थे।

भागवत कृष्ण को अनुपम शक्ति से सम्पन्न बताती हैं। महाभारत ने भीम और अर्जुन की शक्ति को मुख्य रूप में स्वीकार किया था। उन ग्रन्थों से लगता था कि मनुष्य में अपनी निज की शक्ति ही पर्याप्त थी। वह शास्त्रास्त्रों की शक्ति पर उतना निर्भर नहीं था, जितना अपनी शारीरिक शक्ति पर।

शारीरिक शक्ति के साथ मानसिक शक्ति का भी समावेश रहना चाहिए। बहुत बार शास्त्रास्त्रों की शक्ति निष्फल हो जाती है, शारीरिक बल भी काम नहीं देता, उस स्थिति में मनुष्य मानसिक बल के द्वारा पार हो जाता है।

लोग आश्चर्य करते हैं कि रामायण और महाभारत कालीन मनुष्यों में उतनी शक्ति कहाँ से आ गई? आज का मनुष्य तो उस शक्ति का पासङ्ग भी नहीं पा सकता। वर्तमान समय में जो लोग अत्यधिक शक्तिशाली कहलाते हैं, वे शरीर से नहीं, शास्त्रास्त्रों के द्वारा ही शक्ति-सम्पन्न रहते हैं।

अब विचार करो इस पर कि क्या हम भी उतने शक्तिशाली नहीं हो सकते? इस प्रश्न का उत्तर भी रामायण, भागवत या महाभारत से ही मिल सकता है। सभी ग्रन्थ मनुष्य शरीर में अपर्याप्त शक्ति विद्यमान रहने की ओर सङ्केत करते हैं। वस्तुतः मानव-शरीर शक्ति से ओत-प्रोत है, उसका मन मस्तिष्क भी कुछ कम क्षमता वाला नहीं, किन्तु हमें अपनी उस क्षमता के विषय में जानकारी नहीं है। हम कभी कल्पना भी नहीं कर सकते कि हमारे शरीर और मन में उस प्रकार की अद्भुत शक्ति हो सकती है, जो रामायण और महाभारत के पात्रों में विद्यमान थी।

यही कारण है कि हम में से बहुत से व्यक्ति उस पर विश्वास नहीं करते। कहते हैं—सब कुछ गपोड़ा है, अगर कुछ सच भी हो तो थोड़ा ही हो सकता हैं, रचनाकारों ने तिल का ताड़ बना दिया है।

आज से पचास-साठ वर्ष पहिले उस काल में प्रयोग किए गए शस्त्रास्त्रों की आश्चर्यमयी क्षमताओं और युद्ध में प्रयुक्त विभिन्न प्रकार के मायावी कार्यों को असम्भव ही समझा जाता था। किन्तु विज्ञान ने वे सब आश्चर्य विभिन्न रूपों में सामने लाकर खड़े कर दिए और रामायण-महाभारत जैसे अनेक विचित्र कार्य प्रत्यक्ष कर दिखाए. जिन की विस्तृत चर्चा यहाँ अपेक्षित नहीं है।

हम कहते है कि प्रत्येक मनुष्य के तन-मन में विद्यमान है वैसी ही शक्ति, जैसी रामायण और महाभारत कालीन पात्रों में थी। किन्तु मनुष्य उनके विषय में जानकार नहीं है और यदि जानकार भी हो जाय तो प्राप्त कैसे करे ?

विस्मृति के गर्भ में छिपी हुई शक्ति

इस प्रश्न का उत्तर चाहते हो तो योग से लो। योग मनुष्य को देवता बनने में सहायक हो सकता है। राक्षसों जैसी तामसी शक्ति की चाहना हो तो वह भी योग के द्वारा प्राप्त की जा सकती है। अणिमादि सिद्धियाँ चाहते हों तो उनकी प्राप्ति का उपाय तो एक मात्र योग ही हैं।

मानव शरीर में जो शक्ति है, वह निरन्तर रहती है उसमें। किन्तु विभिन्न वासनाओं के चक्कर में वह शक्ति विस्मृति के गर्भ में छिप जाती है। वासनाएँ जब भोगी जाती हैं, तब शरीर को क्षीण बनाने लगती हैं। मुख्य रूप से काम वासना, उसे जितना ही भोगा जायगा, उतना ही शुक्र का अधिक क्षय होगा। शुक्र (वीर्य) का क्षय शक्ति को कम करने में मुख्य कारण है। उससे शरीर

दुर्वल होने लगता है, मन भी दुर्बल हो जाता है। क्योंकि शरीर से शुक्र निकल जाता है तो उसके सहयोग से पोषित होने वाली अन्य धातुएँ भी पोषण से वञ्चित होने लगती हैं।

और तब वह काम वासना दुर्वासना बन जाती है, उसे जितना तृप्त करो, उतनी ही तृष्णा बढ़ती हैं। असन्तोष बढ़ता है, लालसा बढ़ती है और घट जाती है शक्ति शरीर की ही नहीं, मन की भी। इस प्रकार शरीर और मन दोनों से शक्ति निकल जाती है, किन्तु मनुष्य को उसकी भी जानकारी नहीं होती।

शक्ति गई तो सभी कुछ चला गया। धर्म, अर्थ, काम यह तीनों पुरुषार्थ व्यर्थ हो गए। फिर चौथे महा पुरुषार्थ मोक्ष की तो बात ही कैसी? बड़ी दूर की बात है मोक्ष की तो। धर्म ही नहीं बनता तो मोक्ष का प्रश्न ही क्या है? फिर धर्म की उपलब्धि के लिए धन भी चाहिए। शक्ति नहीं तो धर्म नहीं, शक्ति नहीं तो धनोपार्जन भी नहीं।

यदि धर्म विद्याध्ययन में या स्वाध्याय में हो तो उसके लिए भी शक्ति चाहिए। अशक्त मनुष्य का मन ही न लगेगा उन कार्यों में। यदि धर्म तीर्थ यात्रा में हो तो शक्ति के बिना वह भी नहीं हो सकती। शक्ति होगी तो ही चढ़ेगा पर्वतों पर और यात्रा कर सकेगा अमरनाथ, केदार नाथ या उसी प्रकार के अन्य तीर्थों की। यदि धर्म यज्ञादि कर्मों में हो तो उसके लिए भी शक्ति चाहिए। शारीरिक भी और आर्थिक भी। उसके बिना स्वर्ग तो क्या, धरती पर भी जो स्वर्गोपम स्थान विद्यमान हैं उनकी भी प्राप्ति नहीं हो पाती।

यदि कोई धनोपार्जन करना चाहे तो उसके लिए जिस परिश्रम की आवश्यकता है, वह शक्ति से ही हो सकता है। शक्ति नहीं तो परिश्रम कैसे हो? परिश्रम नहीं होगा तो धन का उपार्जन घर बैठे नहीं हो सकता।

काम-सेवन के लिए भी शक्ति चाहिए। यदि दाम्पत्य जीवन को सुखी बनाना है तो शक्ति से ही बनेगा। दुर्बल मनुष्य से पत्नी भी आँखें फेर लेती है। जब संसर्ग में असफलता होती है, तब स्वयं को भी ग्लानि आती है, उससे मन में जो विषाद भरता है, वह शक्ति घटाने में ही सहायक सिद्ध होता है।

जब यह कार्य शक्ति के बिना सम्पन्न नहीं हो सकते, तब जिसे हम महापुरुषार्थ कहते हैं, उस मोक्ष की सिद्धि ही कैसे हो सकती है? मोक्ष के लिए भी शक्ति-सम्पन्न मनुष्य ही अधिक प्रयत्नशील हो सकता है।

इससे यह निष्कर्ष निकला कि हमें आवश्यकता है शक्ति-संवर्द्धन की। क्योंकि शक्ति ही मनुष्य जीवन के महोद्देश्य रूप पुरुषार्थों का मूल स्रोत है। शक्ति के बिना कहीं कुछ नहीं हो सकता। शक्ति सम्वर्द्धन की आवश्यकता लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के उत्थानार्थ है।

यदि चाहें तो उसमें कोई विशेष कठिनाई भी नहीं है। मनुष्य जिस कार्य को करने का दृढ़ संकल्प लेकर उसके लिए कटिबद्ध हो जाय तो उसे अवश्य ही पूरा कर सकता है। विश्व में ऐसा कोई कार्य नहीं, जिसे दृढ़ प्रतिज्ञ मनुष्य पूरा न कर सके हों।

अब प्रश्न यह है कि हम अपेक्षित मात्रा में शक्ति को बढ़ाएँ किस प्रकार? इस प्रश्न पर विचार करने से पहिले हमें इस पर विचार करना चाहिए कि हमारी शक्ति कम कैसे हो गई? किस कारण से हम उसे क्षीण कर बैठे? क्योंकि जिस मार्ग से शक्ति निकली उसी मार्ग से हम पुनः उसका आकर्षण करने में समर्थ हो सकते हैं।

शक्ति जाने के मार्ग पर विचार करें तो यह जानने में असुविधा नहीं होगी वह द्वार जननेन्द्रिय है। मनुष्य अपनी शक्तिका अधिक

अंश उसी मार्ग से खो देता है। जिस समय वह खोता है, उस समय जान नहीं पाता कि खो रहा हूँ और जान भी ले तो क्या खोने से रुका रहेगा? नहीं। इसलिए नहीं कि वहाँ उसे कुछ उपलब्धि की आशा होती है। उसे लगता है कि मैं जो कुछ प्राप्त करने जा रहा हूँ, उसके सामने शक्ति तुच्छ है, यदि वह जाती है तो चली जाय। किन्तु जो मिलने वाला है, वह तो तृप्तिकारक होगा।

और वह उतना ही तृप्तिकारक होता है, जितने से तृप्ति के साथ ग्लानि भी हाथ लगती है। तृप्ति जितने अंश में मिलती है उससे अधिक अंश में शक्ति चली जाती है। आप जान भी लें इस तथ्य को तो भी मन नहीं जानना चाहता। वह कहता है शक्ति जाती है तो जाए, तृप्ति तो हाथ आएगी।

तृप्ति का वही आकर्षण खींचता है पुरुष मात्र को अपनी सञ्चित शक्ति खोने के लिए। चुम्बक को देखा है आपने वह लोहे को खींच लेता है अपनी ओर। पुरुष भी उसी प्रकार के आकर्षण में खिंचता रहता है बार-बार। क्षणिक तृप्ति के मोह में खो बैठता है शक्ति को, उस शक्ति को जिसकी पुरुषार्थों के उपार्जन में आवश्यकता होती है, जिसका जीवन को बनाए रखने में भी पर्याप्त योगदान रहता है।

आग, जो खींचती है अपनी ओर

कौन चाहता है कि शरीर की शक्ति निकल जाने दें? कौन चाहता है कि शक्ति के अभाव में हम लौकिक और पारलौकिक सुखों से वंचित रहें? किन्तु वहाँ कुछ ऐसा है, जिसकी ओर न चाहते हुए भी चलना होता हैं। यदि आपने दीपक की लौ पर जलते हुए पतंग को देखा हो और सोचा हो उसके जलने के कारण पर तो आपने स्वयं से ही प्रश्न भी किया होगा कि क्या कि क्या यह पतंग स्वयं चाहता था दीपक की

लौ में जलना ? और उसका उत्तर भी मिला होगा आपको कि नहीं, यह नहीं चाहता होगा जलना, किन्तु प्रकाश के आकर्षण में खिंचा चला गया होगा और लौ पर पहुँचकर भस्म होना तो स्वाभाविक ही था।

इसी प्रकार मनुष्य भी आये दिन भस्म होता जा रहा है काम-वासना की आग में। वह यह नहीं जानता कि वह आग मुझे भस्म कर देगी, वह नहीं समझता कि उस आग का स्वभाव मनुष्य को ही नहीं, उसकी शक्ति को भस्म कर देना है। यद्यपि वह उस आग में पड़ कर अपने को कुछ दुर्बल अनुभव करता है, किन्तु उसे उसकी परवाह नहीं होती।

पानी के भरे हुए पात्र को हाथ में लीजिये और उससे छलकाते रहिये एक-एक बूँद पानी। धीरे-धीरे वह क्षण दूर नही रहेगा जब पात्र में पानी की एक भी बूँद शेष नहीं मिलेगी। इसके विपरीत खाली पात्र में एक-एक बूँद पानी डालते चलिये, अन्त में वह पूर्णरूप से भर जायगा।

योगियों ने यही अनुभव अपने ग्रन्थों में लिख दिया है। वे कहते हैं विन्दु (वीर्य) ही जीवन है, उसे नष्ट मत करो। बूँद-बूँद करके ही सरोवर खाली हो जाते है। विन्दु का संचय करो। उसके लिए उन्होंने एक उपाय बताया ब्रह्मचर्य, किन्तु इसका पालन सभी के लिए समान रूप से टेढ़ी खीर है।

काम-वासना के द्वारा जो अनुभूति होती है, यदि वह किसी अन्य मार्ग से हो सके तो मनुष्य पहले मार्ग का अवलम्बन करने को कभी तैयार नहीं होगा। किन्तु ऐसा कौन सा मार्ग हो सकता है, जिस पर चलकर प्राणों की अधिकतम गहराई में प्रविष्ट हुआ जा सके और अनुभूतियों के उच्चतम शिखर के स्पर्श का सौभाग्य मिल सके। यदि हम सुख-शान्ति के उस शिखर तक पहुँचने के किसी अन्य मार्ग की जानकारी कर सकें तो फिर क्या ही कहने ?

क्या हम खोजना चाहते हैं उस मार्ग को ? क्या हमने यह प्रयत्न किया है कि हमें कोई ऐसा मार्ग मिल जाए, जिसमें शक्ति-नाश वाले मार्ग से मुख मोड़ा जा सके, जिसमें प्रविष्ट होने पर राम भी मिल सके और काम भी ? उसके लिए हमें जानना होगा वह मार्ग, जो हमें आनन्दानुभूति के नवीन द्वार में प्रविष्ठ करा सके। हमें बढ़ना होगा उसी दिशा में जहाँ लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के सुख उपलब्ध हो सकें।

किन्तु मनुष्य आज तक नहीं जान सका कोई अन्य द्वार। किन्तु अन्य द्वार न जान लेंगे तो इसी प्रकार वहाते रहेंगे उस शक्ति को अथवा न बहाएँगे और बन्द कर लेंगे उस द्वार को तो भी एक बहुत बड़ी हानि दिखाई दे सकती है। वह हानि यह होगी कि हम अपने मस्तिष्क को प्रखर नहीं रख सकेंगे। शक्ति का द्वार बन्द हुआ तो वह चक्कर काटेगी निकलने के लिए, और हो सकता है कि विक्षिप्त बना दे मनुष्य को।

और मनुष्य विक्षिप्त हो गया तो परेशानी बढ़ जायगी। उस समय उसका विवेक सो जायगा। आँखें खुली रहें तो भी विवेक के सो जाने पर वे देखने में असमर्थ हो जाती हैं। उन्हें दिखाई नहीं देता कि आगे क्या है ? वह बहुत बड़ी खाई या नदी को भी देखने में समर्थ नहीं होती।

आपने देखा होगा किसी नेत्र-विहीन को, वेचारा अनुमान के आधार पर चलता है और आगे बढ़ता है। वह अभ्यस्त होजाता है एक मार्ग पर चलने में। किन्तु यदि उसी मार्ग में सहसा कोई गढ़ा खोद दिया जाय तो जब तक उस नेत्र-विहीन को सावधान न किया जाय उस विषय में तब तक वह उस गढ़े से बचेगा कैसे ? फिर तो उसका गिर जाना ही सम्भावित है।

अन्धी वासना और दर्शन शक्ति का हरण

वही हाल होता है उस व्यक्ति का जो आनन्दानुभूति के शिखर पर पहुँचने के किसी अन्य मार्ग को तो जानता नहीं और जिसे जानता है, उस पर भी आँखें बन्द करके चलता है। उस स्थिति में यदि कोई दुर्घटना हो जाती है तो वह कोई असम्भावित बात नहीं होगी।

काम-वासना स्वयं अन्धी होती है। वह मनुष्य की दर्शन शक्ति का भी इतने परिमाण में हरण कर लेती है कि आँखें खुली रहें तो भी दिखाई न दे। कुछ लोग किसी काम बुद्धि वाले मनुष्य को व्यंग्योक्ति 'आँख वाला अन्धा' कह बैठते है। वह स्थिति चाहे किसी अन्य परिस्थिति में न हो, किन्तु काम-वासना के विषय में तो हो ही सकती है।

महाभारत युद्ध की नींव इसी प्रकार नेत्रमयी अन्धता के कारण पड़ी। दुर्योधन के पास आँखें थीं, उनमें दर्शन शक्ति भी थी किन्तु वासना का पर्दा पड़ा होने के कारण आँखों से यथार्थ को देख न सका। उसकी जो दुर्दशा हुई, वही समूचे युद्ध की आधार भूत थी।

ईर्ष्या–द्वेष भी दुर्वासना का ही एक लक्षण है। उसमें भी कम आग नहीं होती। दुर्योधन के हृदय में जो आग लगी हुई थी, उसको अधिक धधका दिया द्रोपदी ने। उसने दुर्योधन को अन्धे की सन्तान कह कर उसे आँख वाला अन्धा ही कहा था। भाषा में श्लेष का प्रयोग इसी प्रकार से होता है।

ईर्ष्या-द्वेष की आग तो जल ही रही थी, द्रौपदी की व्यंग्योक्ति के साथ दुर्योधन के मस्तिष्क पर उसके रूप-सौंदर्य का चित्र उभर आया। आग में व्यंग्योक्ति का घृत क्या पड़ा, काम-वासना भी उसे भड़काने में सहायक कारण बन गई। दुर्योधन उसी समय से दुर्वासना का शिकार हो गया।

उसकी वासना यहां तक भड़क गई कि वह उसे नग्न करने पर तुल गया। लोग उसे प्रतिशोध का नाम देते हैं, किन्तु द्रौपदी के प्रति प्रतिशोध नहीं था उसके मन में। प्रतिशोध के आवरण में घूम रही थी काम-वासना। उसने उसे अपनी जाँघ दिखाई, अपनी इच्छा को संकेत में व्यक्त किया। किन्तु द्रौपदी तो द्रौपदी थी, उसकी प्रवृत्ति में महानता थी। जहाँ महानता होती है, वहाँ भगवान् भी सहायक होता है। द्रौपदी को महान् देखा तो कृष्ण ने उसकी लज्जा बचा ली। किन्तु महाभारत युद्ध तो होना था, वह होकर ही रहा।

संसार में जो कुछ हो रहा है, सब काम-वासना का खेल है, सेक्स का चक्र घूम रहा है सब ओर। किन्तु यदि कोई उस चक्र को घूमने से रोकना चाहे, प्रतिबन्धित करना चाहे तो क्या उसे सफलता मिल सकेगी?

यदि किसी अधिक प्रयोग में लाए जाने वाले मार्ग को बन्द करना चाहें तो उससे पहिले खोज लेना होगा दूसरा मार्ग। यदि वैसा नहीं होता तो वह पहिला मार्ग भी रुक नहीं सकता, वह बन्द किए हुआ द्वार भी ठहर नहीं सकेगा अवरुद्ध शक्ति के प्रहार से। जब पानी का वेग अधिक बढ़ जाता है तो बाँध को तोड़कर निकलने का प्रयत्न करता है। यदि बाँध को न भी तोड़ें तो ऊपर से तो निकल ही जायगा।

इस प्रकार किसी भी शक्ति-प्रवाह को प्रतिबन्धित करना बहुत कठिन कार्य है। उसे तब तक नहीं रोका जा सकता, जब तक कि उससे भी अधिक शक्तिशाली अवरोध खड़ा न किया जा सके। इसलिए सेक्स को प्रतिबन्धित करना शक्ति सञ्चय का सही उपाय नहीं है, वरन् उपयुक्त उपाय है उसकी प्रयोग विधि में अपेक्षित सूझ-बूझ। बिना सूझ-बूझ के तो पशु भी उपयोग करते हैं, तब यदि मनुष्य भी वैसा ही करता है तो क्या वह उसकी मनुष्यता में सम्मिलित रहना चाहिए?

मनुष्य यदि मनुष्य बनना चाहता है तो उसे कुछ ऐसा उपाय करना चाहिए, जिससे शरीर में शक्ति-सम्वर्द्धन हो। जो शक्ति घट रही है, उसे घटने से रोका जा सके और जो घट चुकी हैं, उसे बढ़ाया जा सके।

यदि हम वैसा नहीं कर सकते तो हमें मनुष्य कहलाने का भी कोई अधिकार नहीं है। जब तक हममें पशुता विद्यमान है, तब तक हम मनुष्यता का आवरण ओढ़े हुए उस स्थिति से आगे नहीं बढ़ सकते, जिसमें कोई कौवा अपने पङ्खों पर चूना पोतकर हंस बनने का स्वाँग भरता हो।

पशुता से आवरित काम-वासना

काम-वासना जब पशुता से आवरित रहती है तब उसका भोग, केवल भोग रूप में ही रहता है। मनुष्य उस अनपेक्षित स्थिति से ऊपर बढ़ नहीं पाता। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि उस समय मनुष्य की वही स्थिति होती है, जो एक पशु की।

समागम के समय कौन सी अनुभूति होती है, यह विषय अवश्य ही ध्यान देने योग्य है। क्योंकि उसी अनुभूति में समागम का यथार्थ उद्देश्य निहित है, जिसके विषय में हम आज तक अनजान बने हुए है।

क्या हैं वह अनुभूति? क्या है उसमें विशेषता? अनुभव की कसौटी इसका सही उत्तर दे सकती हैं। शायद आप यह अनुभव कर सके हों कि उस क्षण न समय रहता है, न अहङ्कार, सभी कुछ विलीन हो जाता है। वही आत्मा की अनुभूति का वास्तविक क्षण है। जब मनुष्य को समय का ज्ञान न रहे और अहङ्कार विलीन हो जाय तभी उसे उस दिव्य झलक की प्राप्ति हो सकती है, जिसे प्राप्त करना परम पुरुषार्थ के अन्तर्गत आता है।

किन्तु वह स्थिति क्षण भर से अधिक नहीं टिक पाती। उसके बाद रह जाती है, उसकी स्मृति मात्र और शून्य हुआ समय पुनः गतिशील हो जाता है और अहङ्कार उभर आता है उस विलीनीकरण की प्रक्रिया से। तब शायद हमें होश आता है कि हम अपनी बहुत-सी शक्ति खो चुके हैं, उस क्षण भर की विचित्र प्रक्रिया में।

और शायद आप इससे इन्कार न करेंगे कि बाद में तो वह स्मृति और भी धुँधली हो जाती है। मनुष्य ने बार बार प्रयत्न किया है उस अनुभव की झलक का समय बढ़ाने का, किन्तु वैसा करने में उसे शायद ही सफलता मिली हो।

मनुष्य उसी क्षण में सही चेतना पर पहुँच सकता है। उस चेतना तक पहुँचने के दो ही मार्ग प्रतीत होते हैं–कामोपभोग और ध्यानाभ्यास। ध्यान योग के अभ्यासियों का मत है कि ध्यान में त्राटक का प्रयोग अधिक सरल होता है।

कामोपभोग की प्रक्रिया प्रकृति प्रदत्त है। वह किसी अभ्यास के द्वारा साध्य नहीं हुई है। बालक जब बड़ा होकर युवावस्था में प्रवेश करता है, तब उसमें उस प्रकार की वासना स्वतः जाग्रत् होने लगती है।

काम वासना का वरदान मनुष्य को ही प्राप्त नहीं हुआ है, पशु भी उससे उपकृत हुए हैं। प्रकृति ने इस प्रक्रिया से मनुष्य, पशु और पक्षी, किसी को भी वंचित नहीं रहने दिया। किन्तु यदि मनुष्य पशु–पक्षियों की तरह ही उसका प्रयोग करता रहे तो उसमें विशेषता ही क्या रही ?

यदि हम अपने को भीतर से टटोल कर देखें, मन के भीतर अधिक गहरे उतरने का प्रयत्न करें तो हमें यह अनुभव करना कुछ कठिन नहीं होगा कि हमने शरीर अवश्य मनुष्य का

पाया है, किन्तु प्रवृत्ति में पशु–पक्षियों से विशेष कुछ भी नही है। इसलिए हम मनुष्य होने का दम्भ भले ही करते रहें किन्तु पशु से अधिक ऊँचे उठने मैं अपने को समर्थ नहीं पाते।

हमने काम-वासना को ठीक प्रकार से समझा ही नहीं। समाज के भय से हम उसके प्रयोग को रोक तो न सके, किन्तु दबाने में अवश्य सफल हो गए। जब कोई गतिशील वस्तु दवाव के द्वारा रोकी जाती है, तब वह बहुत बार विपरीत परिणाम उपस्थित कर देती है।

और वह दवाव ही मनुष्य के लिए तनाव देने वाला सिद्ध हुआ। वासना दब तो गई किन्तु उसने मनुष्य को सदा के लिए तनाव में डाल दिया। अब ऐसा कोई समय नहीं, जबकि वह तनाव-रहित अवस्था में रह पाता हो। अब उसके मन में हर समय कामासक्ति बनी रहती है। विचार चलते हैं तो काम उन पर छा जाता है। कोई कार्य करते हैं तो काम का ध्यान आ जाता है। उपासना करते हैं तो भी काम बाधक बने बिना नहीं रहता।

किसी स्त्री को देखते ही भड़काने वाली काम-वासना घर, बाहर, मन्दिर, तीर्थ सर्वत्र विद्यमान रह सकती है। उसके फलस्वरूप मनुष्य भूल जाता है कि वह कहाँ जा रहा था, क्यों जा रहा था ? क्योंकि मन में काम-वासना बसी है, वही वासना जो दबाई हुई थी, वही वासना जो प्रतिबन्धित थी।

यद्यपि बहुत से लोग काम-वासना की निन्दा करते हैं और कामुक प्रवृत्ति वालों को गालियाँ देते हैं। किन्तु कोई कह सकता है कि वे स्वयं उस वासना से मुक्त हैं ? क्या वे दावा कर सकते हैं कि काम-वासना का उन पर किञ्चित् भी प्रभाव नहीं है ? किन्तु वह दावा दिखाने भर के लिए न हो, हृदय से हो।

एक व्यक्ति ने बताया कि एक पुस्तक जप्त की गई अश्लील होंने के कारण। जिस न्यायालय में वह वाद चल रहा था, उसे तो उस पुस्तक को पढ़ना ही चाहिए था, किन्तु आश्चर्य तो उस बात से हुआ, जिससे पता चलता था कि वह पुस्तक अनेक न्यायाधीशों की दिलचस्पी का विषय बनी रही और घूमती रही एक न्यायाधीश से दूसरे के हाथ में। इसलिए नहीं कि उस पर उन्हें कोई कानूनी व्यवस्था देनी थी, वरन् इसलिए कि पुस्तक के विषय के सम्बन्ध में उनकी दिलचस्पी थी।

इससे यह जानना कठिन नहीं है कि सेक्स के जादू से वे भी मुक्त नहीं हैं, जो सेक्स-सम्बन्धी साहित्य को अच्छा नहीं मानते। यदि लोगों ने यथार्थ रूप में उसकी बुराइयों की ओर ध्यान दिया होता तो समाज में बहुत कुछ सुधार हो सकता था।

दाम्पत्य जीवन में सुख-शान्ति तो किसी किसी घर में ही देखी जाती है। अधिकांश दम्पत्ति उससे वञ्चित रह जाते हैं। ऐसे गृहस्थों की भी कमी नहीं, जो अनबन में जीवन व्यतीत करते हों। यदि पति-पत्नी में अनबन रहती है तो मन में शांति नहीं रह सकती। शांति नहीं तो सुख भी भ्रान्ति मात्र ही बन जाता है।

परन्तु यदि पति-पत्नी दोनों ही सेक्स को समझने का प्रयत्न करें तो उनमें अनबन के लिए अवसर नहीं रहता। यदि कभी किसी प्रकार से अनबन हुई भी तो वह सेक्स-ज्ञान के सुयोग से सहज ही दूर हो सकती है। क्योंकि सेक्स का सम्बन्ध दोनों से ही है और उसके विषय में दोनों ही जानकार हो जाएँ तो उनका मत-वैभिन्न नहीं रहेगा। उनमें सहयोग की भावना जाग्रत् होगी और तब वे पति-पत्नी के सम्बन्धों से भी ऊपर उठकर परस्पर के मैत्री सम्बन्ध में बँध सकते हैं।

—*—

ऊर्जा का ऊर्ध्वगमन, एक यौगिक प्रक्रिया

साधारण रूप में काम-वासना का प्रयोग तो सभी करते हैं. किन्तु जो दम्पत्ति उसमें ऐसी विशेषता ला सकें कि काम-वासना का रूपांतरण हो ही जाय तो उनसे अधिक सुयोगी और कौन हो सकता है? वस्तुतः उनके सही रूप में पति-पत्नित्व का आरम्भ तो उसी दिन से हो पाता है, जब वे काम की ऊर्जा को रूपान्तरित कर उसके ऊर्ध्वगमन में परस्पर सहयोगी बन जाते हैं। क्योंकि उसी दिन पुरुष यह अनुभव कर पाता है कि उसकी पत्नी ने ही अपना सहयोग देकर गर्हित वासना से छुटकारा दिया और स्त्री भी उसी का अनुभव करके पुरुष के द्वारा स्वयं को उपकृत हुई समझ पाती हैं।

शायद आप चौंक पड़ें हमारी इस बात से कि ऊर्जा के रूपान्तरण और ऊर्ध्वगमन की चर्चा करके कोई अटपटी बात कह दी। किन्तु यह बात कुछ नई नहीं है, वरन् योग की ही एक ऐसी विधि है जो हजारों वर्षों से प्रयोग में लाई जाती रही है। योग ग्रन्थों में इस प्रकार की विधि निर्दिष्ट मिलती है। इसका नाम 'व्रजोली मुद्रा' है। हठयोग प्रदीपिका में कहा है—

नारी भगे पतिद्विंदुमभ्यासेनोर्ध्वगासदेत् ।
चलितं च निजं विंदुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ।।

अर्थात्—योनि में पतित हुए बिन्दु को अभ्यास के द्वारा ऊर्ध्व

आकर्षण करे। यदि विन्दु चलित भी हो जाय तो भी ऊपर की ओर आकर्षित करके उसकी रक्षा करनी चाहिए।

ओर इस प्रकार के अभ्यास में भी त्राटक का अभ्यास करने वाला योगी सरलता से सफलता प्राप्त कर सकता हैं। स्त्री और पुरुष दोनों को ही इस मुद्रा के अभ्यास से लाभ उठाने का निर्देश है। यहाँ प्रसङ्गवश ही इसकी चर्चा की गई है, इसलिए अधिक विस्तार नहीं दिया गया है।

यदि काम-ऊर्जा का रूपान्तर करना है तो उसे त्राटक साधना के द्वारा सफलता पूर्वक किया जा सकता है। किन्तु हमें त्राटक का अभ्यास जानना चाहिए, काम-वासना को दवाने या प्रतिवन्धित करने के अभ्यास के विषय में कुछ भी जानना आवश्यक नहीं है। क्योंकि काम-वासना प्राकृतिक है, उसे रोका या दवाया नहीं जा सकता, वरन् उसे उपयुक्त ढङ्ग थे मोड़ दिया जा सकता है। सैद्धांतिक रूप से हम सेक्स की प्रक्रिया को नहीं रोक सकते, किन्तु किसी वस्तु का उपयोग हितकर प्रकार से कर सकते हैं।

काम का विरोध मत करो, उसे अपनी यात्रा पूरी करने दो। किन्तु मार्ग चुनने का अधिकार आपको अवश्य है। आप काम का उपयोग योग-विधि से कर सकते हैं। वह उसमें बाधक नहीं हैं, वरन् नवीन दिशा देता है। योग ने संसार में अनेक ऊर्ध्वरेता महापुरुष उत्पन्न किए हैं।

भागवतादि पुराणों में आपने कृष्ण की हजारों रानियाँ होनेकी बात सुनी और पढ़ी होगी। किन्तु आपको यह जान लेना चाहिए कि भागवत में ही कृष्ण को 'ऊर्ध्वरेता' कहा है। ऊर्ध्वरेता वह है को काम का उपभोग विकृत वासना के रूप में न करे, वरन् उसकी ऊर्जा का रूपांतरण करे उसे ऊर्ध्वगामी बनाकर।

यदि योग का अभ्यास हम अपनी उठती आयु से ही करने लगें तो अपना बहुत कुछ हित साधन कर सकते हैं। मनुष्य अपनी किशोरावस्था में भी सीखे त्राटक योग तो उन्हें सुख शान्ति का अनुभव जीवन के आरम्भ से ही होने लगेगा। जरा बालक को अभ्यस्त बना कर देखिए उसका वह अल्प समय के अभ्यास में ही पाएगा कि उसके जीवन का एक ऐसा द्वार खुल चुका है, जो काम-वासना के द्वार से भिन्न है।

बालकों को शिक्षा दी जानी चाहिए ध्यान की, निर्विचार होने की, मौन रहने की, क्योंकि वे वैसा करने में वयस्कों की अपेक्षा शीघ्र सफल हो सकते हैं। जबकि बड़ी आयु में उस अभ्यास में अधिक प्रयत्न करना होता है और वृद्धावस्था में तो उससे भी अधिक प्रयत्न की आवश्यकता होती है।

प्रेम की बदलती हुई परिभाषा

यद्यपि प्रेम सभी आयु में रहता है, किन्तु आयु के अनुसार प्रेम की परिभाषा बदलती रहती है। बाल्यकाल में जो प्रेम रहता है, उसमें छल कपट नहीं होता, वासना नहीं होती, स्वार्थ नहीं होता। बालक उन सभी बातों से दूर रहता है, जिनमें वयस्क मनुष्य संलग्न रहते हैं।

किशोरावस्था में कुछ मोह आ जाता है उस प्रेम के साथ। क्योंकि काम वासना उन्मुक्त होना चाहती है बन्धन थे इसलिए उस समय के प्रेम में वासना का पुट भी लग जाता है और वह पुट उस स्थिति में अधिक बढ़ जाता है जब उसमें नारी के प्रति आकर्षण बढ़ जाता है।

वासना बढ़ती है तो छलना को जन्म देती है। धीरे धीरे वह व्यावसायिक होती जाती है। लोग कहते हैं कि व्यापार का अभिप्राय उस

प्रयत्न से है, जिसमें जैसे भी हो काम बना लेना ही उद्देश्य हो। उसके बाद की आयु में प्रेम का जो स्वरूप बनता है, उसमें उसके वहाँ तक के जीवन के अनुभव समाविष्ठ रहते हैं।

परन्तु यदि मनुष्य प्रेम के यथार्थ स्वरूप को जानकर उसे अपने हृदय में उतार ले तो उससे उसके जीवन की धारा बदल सकती है। जहाँ सच्चा प्रेम हो, वहाँ कामुकता नहीं ठहरती, छल कपट नहीं टिकता, व्यावसायिकता का लोप हो जाता है और घृणा का अभाव हो जाता है।

यदि कुछ सींखना हैं तो प्रेम करना सीखो। यदि कोई अभ्यास करना हैं तो प्रेम करने का अभ्यास करो। परन्तु ध्यान रहे कि जिस प्रेम का आश्रय लेते हो उसमें छलावा या आडम्बर न हो। सच्चे प्रेम में इतनी शक्ति होती है कि वह विरोधी के भी घृणाभाव को नष्ठ कर डालती है। इसलिए अपने स्वभाव में प्रेम-रस घोलो, वाणी को प्रेम में सराबोर रखो, अपनी गतिविधियों और चेष्टाओं को प्रेममयी कर लो फिर देखो, काम-वासना भी प्रेम में भीग जायगी। उसमें वासना का अंश न रहकर केवल 'काम' रह जायगा।

यदि विश्वास न हो तो करके देखो इसे। छलावे से मुक्त हो जाओ, क्रोध को अपना शत्रु समझकर दूर फेंक दो. द्वेष और घृणा को अपने पास मत फटकने दो, बस इतने से ही तुम्हारा कायाकल्प हो जायगा। तुम अनुभव करोगे कि इस समय मैं जहाँ पहुँच गया हूँ, वहाँ पहिले कभी नहीं था, जो स्थिति प्राप्त हो चुकी है, वह पहले कभी उपलब्ध नहीं थी। इस स्थिति में प्रेम बढ़ेगा, अभ्यास बढ़ेगा और काम-वासना का रूपान्तरण होने लगेगा और त्राटक के द्वारा यह सभी सरलता से सम्भव है।

त्राटक योग द्वारा मन की स्थिरता

इन्द्रियाँ, वासना और तृप्ति

काम-विज्ञान के विषय में लोगों ने बहुत-सी विरोधी भावनाएँ फैला रखी है। उसी प्रकार की भावना लोगों को सेक्स की आध्यात्मिक स्थिति पर पहुँचने में बाधा पहुँचाती है। यह भावना एक ओर तो काम के दमन का समर्थन करती है और दूसरी ओर उसे नग्न रूप में प्रदर्शित करने की छूट देती है।

जानते हैं आप—कितना अश्लील साहित्य प्रकाशित होता और बिकता है दुनिया में, वह सब काम-वासना से, सेक्स से ही सम्बन्धित है। सरकारी कानून उन्हें रोकता भी है। और आँखें भी फेर लेता है उससे। फिल्मों में भी ऐसे अनेक दृश्य देखने कोमिल जाते हैं, जिनका मन-मस्तिष्क पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

कभी सोचा है आपने—यह अश्लील साहित्य इतना क्यों बिकता है? यह अश्लील फिल्म अधिक क्यों पसन्द की जाती हैं? यदि नहीं सोच सके हैं तो समझलें कि यह सब दमित काम-वासना का ही प्रभाव है, जिसने लोगों को उस प्रकार की बातें पढ़ने-सुनने या देखने की उत्सुकता उत्पन्न कर दी है।

दमित कामवासना ने अपना रूप बदल लिया है, वह विकृत हो गई है। क्योंकि लोगों ने उसे धर्म से अलग मान लिया है। वे कहते हैं-वासना वासना है, वह धर्म नहीं हो सकती, किसी भी धर्म ने वासना

को अपने साथ नहीं जोड़ा। भला धर्म वासना का क्या काम ? जहां वासना है, वहां धर्म हो ही नहीं सकता।

और ऐसे लोग कहते हैं कि वासना का त्याग करो। यदि धर्म की रक्षा करनी है तो वासना का त्याग करना ही होगा। यदि धार्मिक बनना है तो वासना-रहित होना पड़ेगा। धर्म और वासना में उतना ही अन्तर है जितना तीन और छ: के मध्य। दोनों के मुख विपरीत दिशा में है।

परन्तु शरीर में इन्द्रियों का होना तो मानते हो ? उन्हें तो नकार नहीं सकते ? और यह भी मानते हो कि जीवनचर्या चलानी है तो इन्द्रियों को तृप्त रखना होगा। शरीर की पुष्टि के लिए अन्न आवश्यक है। यदि अन्न न मिले तो कब तक चलेगा जीवन मार्ग चलना है तो हाथ-पाँवों से काम लेना ही होगा और उनके साथ भी मुख्य रूप से सहयोग होगा नेत्रों का। यदि नेत्र दृश्य का देखना बन्द कर दें तो मनुष्य को कुछ दिखाई नहीं दे सकता। सभी मानते हैं कि आँख है तो संसार है अन्यथा कहीं कुछ नहीं—

'मूँदउ आँख कतउ कछु नाहीं।'

कानों का विषय शब्द है, यदि वे शब्दों का सुनना बन्द कर दें तो मनुष्य बहरा हो जायगा। नासिका की घ्राण शक्ति ही सूँघने में कारण बनती है। इसी प्रकार मल-मूत्र त्याग के लिये भी भिन्न-भिन्न अंग निश्चित हैं। उपस्थइन्द्रिय का कार्य मूत्र-त्याग भी है और संसर्ग-सुख भोगना भी।

इस प्रकार शरीर का प्रत्येक अंग, प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने कर्म के प्रति आसक्ति रखती है। अनिवार्य आवश्यकता को तो पूरी करना ही होगा। इन्द्रियाँ अपनी-अपनी अनिवार्य आवश्यकताएँ पूरी करने में ही लगी रहती है और वही उनकी आसक्ति है, वही उनका धर्म है।

अब आप कहें कि इन्द्रियाँ अपने-अपने कर्म से विमुख हो जाँय तो सामान्य जीवन में ऐसा किया जाना न तो व्यावहारिक है और न सम्भव ही है।

हमें यह मानना होगा कि प्रत्येक इन्द्रिय की आसक्ति या वासना अपने-अपने विषय के प्रति हैं। वही वासना उस-उस इन्द्रिय का अपना-अपना धर्म है और हम उसी प्राकृतिक धर्म के त्याग की बात कहते तो क्या वह बात अनुचित नहीं है ? धर्म-विरुद्ध नहीं है ?

काम-ऊर्जा का सात्विक प्रयोग शत प्रतिशत धर्म के ही अन्तर्गत है। क्योंकि उसके सात्विक प्रयोग से वह ऊर्जा स्थूल से सूक्ष्म हो जाती है तथा उसके ऊर्ध्वगामी होने की स्थिति में उसका रूपान्तरण भी स्वत: होने लगता है। ऊर्ध्वरेता कहलाने वाले पुरुष उस ऊर्जा को अधोगामी होने से बचाते और उसे नवीन मोड़ देते हैं। उनकी 'ऊर्ध्वरेता' उपाधि भी इसी इसी विशिष्ट क्रिया के कारण ही है।

सत्-चित्-आनन्द की त्रिवेणी

परमात्मा सत्, चित्त, आनन्द तीनों ऐश्वर्यों से सम्पन्न है। जीव में भी वे सब ऐश्वर्य विद्यमान हैं, किन्तु मनुष्य अपने उन ऐश्वर्यों से अनभिज्ञ बना हुआ है। उसका मुख्य कारण वह भ्रान्ति ही है जो मनुष्य के मस्तिष्क में बलपूर्वक भर दी गई है और इसीलिए वह अपनी काम ऊर्जा के प्रवाह को निरन्तर अधोगामी बनाये रखता है।

वह नहीं जानता कि काम ऊर्जा जब तब तक अधोगामी रहेगी, तब तक उसका उत्थान नहीं हो सकता। अधोगामी ऊर्जा मनुष्य को मोहित किये रहतीहै, जिससे मनुष्य वासना का दुरुपयोग करता है। किसी व्यक्ति को एक ही मार्ग की जानकारी हो और वह मार्ग कंटकाकीर्ण हो तो वह उसी मार्ग पर चलेगा। उसे क्या मालुम कि लक्ष्य

पर पहुँचने का कोई दूसरा मार्ग भी है, जो कंटक-रहित, स्वच्छ और सीधा है। जब जानकारी ही नहीं तो कैसे चले उस पर।

उस पर भी तुर्रा यह कि उस मार्ग पर भी मत चलो। वह मार्ग भी, जिसे तुम जानते हो, निषिद्ध बना दिया गया है। जहाँ यह उचित था कि सीधा-सच्चा मार्ग बताया जाता, वहाँ उस कंटकाकीर्ण मार्ग पर चलने का भी निषेध किया गया है। वह निषेध इसलिए नहीं है कि मार्ग कंटकाकीर्ण और कष्टप्रद है, वरन् निषेध इसलिये कि उसके द्वारा जिस लक्ष्य पर पहुँचना चाहते हो वह अधार्मिक है। वहाँ जाना ही वर्जित है। इसी उद्देश्य से लगा दिया गया है प्रवेश निषिद्ध का बोर्ड। जो जायगा उधर वह समाज की दृष्टि में अधार्मिक समझा जायगा।

उस निषेध ने आपकी जिज्ञासा को अधिक जाग्रत् कर दिया है। आप समझ चुके हैं कि जिस पर लक्ष्य जाने वाले मार्ग पर चलने का निषेध किया गया है, वहाँ कुछ अद्‌भुत अवश्य है। ऐसा अद्‌भुत जिसे समाज सहन करने को तैयार नहीं है। ऐसा विचित्र, जिसकी विचित्रता अनुभव प्राप्त करने से समाज रोक रहा है। किन्तु ऐसी कौन-सी विचित्रता है उसमें ?

मन-मानस में उफान

जब जिज्ञासा बढ़ती है तब एक प्रकार का उफान आ जाता है मन-मानस में। वह उफान तोड़ देता है सभी किनारों को जिससे धारा का प्रवाह बाढ़ का, फ्लड का रूप ले लेता है। परन्तु वह बाढ़ या फ्लड सृजनात्मक दृष्टि से किसी काम का नहीं होता। आप जानते होंगे कि बाढ़ से कितनी बड़ी हानि होती है। धन-जन की हानि, कृषि की हानि और न जानें क्या-क्या ?

किन्तु यदि बाढ़ के ताण्डव से बचने के लिए बाँध आदि के रूप में

पहिले से ही कुछ उपाय कर लिए जाते हैं, तो उससे हानि की संभावना बहुत कम रहती है। वरन् पानी को कहीं एकत्र कर रखा जाय तो वह कृषि फर्म में उपयोगी सिद्ध हो सकता है। और बहुत-सा असिंचित क्षेत्र असिंचन की हानि से बच जाता है।

काम-ऊर्जा का निरर्थक उफान भी इसी प्रकार हानिकर हो सकता है। हम उसे छिपाने या दबाने का प्रयत्न करते हैं तो उसका प्रवाह छोटे फाँट वाली नदी को लाँघने वाले प्रवाह के समान ही उत्प्लव रूप सिद्ध होता है। उस प्रकार दमन की हुई ऊर्जा अपनी गति में भयंकरता लाती हुई नीचे की ओर अग्रसर होती है।

जल का स्वभाव नीचे की ओर बहने का है, वह ऊपर की ओर नहीं वह सकता। किन्तु जब उसे ऊपर की ओर बहाना अपेक्षित होता है, तब उसके लिये किसी बिद्युत-यंत्र का प्रयोग किया जाता है वह यंत्र ही पानी को नीचे से खींच कर ऊपर ले जा सकता है। पानी की पाइप लाइन (नल) का उपयोग भी इसी सिद्धान्त पर निर्भर है।

किन्तु जल को ऊर्ध्वगामी बनाने में प्रयुक्त यन्त्र विशेष के प्रयोग की भी जानकारी चाहिए। आप उससे सम्बंधित तकनीक को छिपाते रहें तो यन्त्र पास में हो तो भी उसका उपयोग नहीं किया जा सकता। और ऐसा होने पर पानी का प्रवाह तो अधोगामी रहेगा ही।

इसी प्रकार, जब तक काम-ऊर्जा के सदुपयोग वाली विधि छिपाई जाती रहेगी तब तक मानव जाति का हित साधन नहीं हो सकता। छिपाव हमें सदा ही अज्ञान में डाले रहा है। अनेक व्यक्तियों की जानकारी में अद्भुत गुण वाले चमत्कारिक औषधि-प्रयोग रहते हैं, किन्तु वे उन्हें किसी अपने प्रिय से प्रिय व्यक्ति को भी नहीं बताते और अपने जीवन के अन्त में उन्हें भी अपने साथ ले जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि उनका वह ज्ञान उनकी मृत्यु के बाद लोप हो जाता है यदि वे उसे कुछ

लोगो को बता जाते तो उससे मनुष्य जाति का कितना उपकार हो सकता था।

यही स्थिति काम-विषयक ज्ञान के सम्बध में है। यह ज्ञान यदि छिपाने की अपेक्षा अधिक प्रयोग में लाया जाय, यदि काम-ऊर्जा के सम्बन्ध में अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त की जाती रहे तो न जानें कितने गूढ़ रहस्यों से पर्दा उठ सकता है और उससे मानव जाति का न जाने कितना हित-साधन हो सकता है।

अज्ञान से मोह की उत्पत्ति

अज्ञान ने मोह उत्पन्न किया है, उसने बुद्धि भ्रमित कर दी है मनुष्य की। उसी के आवरण में सत्-चित् और आनन्द तीनों ऐश्वर्य आवतरित हो गये हैं, छिप गये हैं। उनका उद्घाटन किया जा सकता है काम-उर्जा को ऊर्ध्वगामी बनाकर यदि मनुष्य काम-ऊर्जा के स्वरूप को ठीक प्रकार से समझकर उसे ऊर्ध्वगामी बनाले तो निश्चय ही सत्-चित् आनन्द में स्थित हो सकता है।

जब तक यह ऊर्जा विकृत वासना के फेर में व्यर्थ व्यय की जाती रहेगी तब तक मनुष्य न तो धर्म के तत्व को समझ सकता है और न अपने जीवन का ही उत्थान कर सकता। विकृत वासना का प्रयोग तो पशु, पक्षी और कीड़े- मकोड़े भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में करते ही हैं, तब मनुष्य भी उन्हीं के समान इसमें पड़ा रहे तो उसके मनुष्य शरीर धारण का फल ही क्या हो सकता है? यदि हम उस प्रकार के पंक से बच कर अपने जीवन को सुफल बनाना चाहते तो हमें अपने विचारों में परिवर्तन करना होगा तथा अपनी क्रिया विधि को बदलना होगा।

जो लोग काम-वासना को अधर्म बताते हैं, वे हमें अज्ञान में आवृत करने पर तुले हुए है। हमें वासना की कीचड़ में डालले वाले वही हैं जो धर्म के स्वरूप शायद स्वयं ही नहीं जानते, वे स्वयं ही भ्रमित हैं, मोहित हैं।

उनका मोह भंग करने के लिए पहिले अपने मोह के घेरे को स्वयं तोड़ना होगा। वास्तविकता क्या है ? इसकी परख तभी हो सकती है जब हम अपने चारों ओर फैली हुई भ्रान्तियों के जटिल जाल को स्वयं नष्ट कर डाले। अज्ञान का नाश ज्ञान से ही सम्भव है। यदि यथार्थ ज्ञान उत्पन्न हो जाता है तो मोह का नाश सहज में हो जाता है।

क्या आप जानते हैं कि खाद में जो दुर्गन्ध होती है, वह बीजों के माध्यम से वृक्ष में पहुँचकर पुष्पों की सुगन्ध बन जाती है। इस प्रकार दुर्गन्ध का रूपान्तरण हो जाता है सुगन्ध के रूप में। कमल की उत्पत्ति कीच से होती हैं, वह सुन्दर कमल भी कीच का रूपान्तरण है।

और हीरा ? किससे बनता है हीरा ? कोयले से यद्यपि सभी कोयलों में वैसी शक्ति नहीं होती, तो भी हीरा कोयले का ही रूपान्तरण है। सोना जब खान में होता है तब कोई नहीं पहचान सकता कि वह सोना होगा। उस समय उसका रूप लगभग मिट्टी जैसा ही होता है, किन्तु सफाई आदि के क्रम से जो लोग उसे सोने का रूप दे पाते हैं, वस्तुतः वे मिट्टी को ही सोने के रूप में बदलते हैं।

इसी प्रकार और भी न जानें क्या पदार्थ विशेष क्रियाओं के द्वारा अपना पूर्व रूप छोड़कर नये रूप में आ जाते हैं। किसी जीर्णशीर्ण भवन को सुन्दर बनाना हो तो उसे प्लास्टर आदि से संयुक्त करना होता है। बहुत बार भवन में कुछ तोड़ फोड़ के साथ परिवर्तन भी करने होते हैं। और यदि वह परिवर्तन अधिक करना पड़े तो वही रूपान्तरण का प्रमुख कारण बन सकता है।

काम-ऊर्जा के रूपान्तरण में भी यही रहस्य है। काम-वासना का दुरुपयोग ही दुखद परिणाम उपस्थित करता है। वही महापंक रूप और घृणित हैं। हम उस घृणा को बदल सकते हैं उसके सदुपयोग द्वारा। निश्चय ही हम उसका रूपान्तरण कर सकते हैं प्रेम स्वरूप में अर्थात् काम-वासना जब सतोगुणो से युक्त होकर आध्यात्मिक रूप से

प्रयोग में लाई जाती है जब उससे प्रेम की अजस्र धारा प्रवाहित होने लगती है।

क्या वह प्रक्रिया कभी अधार्मिक हो सकती है, जिससे प्रेम की अजस्र धारा वहती हो ? धर्म में अधर्म या अज्ञान के लिए स्थान नहीं हैं, वह तो ज्ञान और प्रकाश की प्राप्ति में सहायक होता है। जिस धर्म में प्रेम हो, वही धर्म है, प्रेम-हीन धर्म को धर्म कहना भी उसकी हँसी उड़ाना है।

परन्तु हम कामुकता के पक्ष में कुछ नहीं कहना चाहते। क्योंकि उसमें प्रेम नहीं हो सकता। इसलिए कामुकता धर्म के अन्तर्गत नहीं आ सकती। धर्म में उसे कहीं भी स्थान प्राप्त नहीं है। किन्तु कुछ चालाक किस्म के धुरन्धरों ने काम-ऊर्जा का जहाँ विरोध किया है, वहाँ कामुकता को प्रोत्साहन दिया है।

वस्तुतः कामुकता को हम अधर्म कह सकते हैं। कामुकता मन-मानस को गँदला बनादेती है,जिससे उसका स्वरूप, उसकी स्वच्छता उसके गुणों का ह्रास हो जाता है। वहीं ऊर्जा को अधोगामी बनाने में प्रमुख कारण है। किन्तु उसका नष्ट किया जाना तब तक सम्भव नहीं है जबतक मनुष्य का मोह भंग न हो, जब तक उसका अज्ञान पलायन न कर जाय।

कामुकता और काम-ऊर्जा में धरती आकाश जैसा अन्तर है। जहाँ कामुकता मोह और अज्ञानजन्य होने के कारण मनुष्य को मोहित करती है और उसे विवेक बुद्धि से विहीन बना देती है, वहाँ काम-ऊर्जा मनुष्य में विवेक बुद्धि उत्पन्न करतीहै उसे मोह से बचातीहै और नैसर्गिक प्रेम का उपासक बना देती है। उसका प्राकट्य मनुष्य के लिए सभी पक्षों में कल्याणकारी है।

मन और उसकी स्थिरता

मन चंचल है, वह एक स्थान पर स्थिर रूप से नहीं ठहर पाता।

उसकी चंचलता बढ़ाने में भी कामुकता का अधिक सहयोग रहा है। वह मन को जड़ता के तल पर उतार देती है। पत्थर जड़ होता है, उसमें कम्पन नहीं होता, वह विना उठाये हिल भी नहीं सकता। कामुकता जब अपना प्रभाव जमाती है मन पर तब उसकी चचलता बदल जाती है क्रूरता में, वह उस समय पत्थर जो किसी क्रेन के द्वारा उठा कर दूसरी ओर फेंकने की प्रक्रिया में हिलता है और गिरता है।

यद्यपि पत्थर को उठाने-गिराने में भी इस बात की सावधानी बरती जाती है कि कहीं गिरने से उसके टुकड़े न हो जाँय, तो भी बहुत बार पत्थरों को गिरकर टूटते हुए देखा जाता है। वे गिरते हैं तो नीचे आई हुई वस्तु को भी दबा देते हैं, तोड़ देते हैं।

विकृत काम-वासना भी इसी प्रकार की तोड़ फोड़ कर सकती है। उसके द्वारा मन में दरार पड़ सकती है, उसमें क्रोध की उत्पत्ति हो सकती है। 'कामात्क्रोधोऽभिजायते' काम से क्रोध उत्पन्न हो जाता है। बहुत बार वही क्रोध विनाश का कारण सिद्ध होता है।

इसलिए मन को स्थिर बनाना बहुत आवश्यक है। किन्तु उस पत्थर के समान स्थिर (कड़ा) नहीं जो गिरने पर क्षतिग्रस्थ हो जाय। उसमें स्थिरता के साथ कोमलता भी होनी चाहिए। उतनी कोमलता जो दूसरों के साथ उदारता का व्यवहार उपस्थित कर सके, प्रेम की निश्छलता प्रस्तुत कर सके।

बहुत-से लोग कहते हैं कि मन की चंचलता दूर नहीं हो सकती। किन्तु यह कथन उन भोगवादियों का हो सकता है, जो इन्द्रिय-तुष्टि और आत्म-तुष्टि में भी बड़ा अन्तर है, बुनियादी अन्तर, जो सभी प्रकार से भिन्न परिणाम वाला हो सकता है।

इन्द्रिय-तुष्टि का अर्थ इन्द्रियों से सम्बन्धित विषयों का उस परिणाम तक भोगना है, जब तक कि उनकी तृप्ति न हो जाय। और यह निर्वि-

वाद तथ्य है कि इन्द्रियों के भोगों को जितना ही भोगा जाता है, वे उतने ही बढ़ते जाते हैं। अभिप्राय यह है कि उनसे तृप्ति तो कभी होती ही नहीं।

किन्तु आत्म-तुष्टि का अर्थ उससे बिल्कुल भिन्न है। आत्मा की तृप्ति भोगों से कभी नहीं हो सकती। क्यों कि भोग भौतिक है, नाशवान हैं, असत्य हैं, जब कि आत्मा दिव्य, अविनाशी और सत्य है। उसे कभी किसी भोग की चाह उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि वह तो निस्पृह और निष्काम है। उसका धर्म भोगों को भोगना नहीं, वरन् उनके प्रति उदासीन रहना है। वह न कभी देखता है, न कभी सुनता है, न कभी सूँघता है, न कभी स्पर्श करता है और न कभी स्वाद लेता है। उसे इन सब क्रियाओं से कोई प्रयोजन नहीं।

वस्तुतः यह सब तो शरीर के धर्म हैं, इन्द्रियों के विषयों का लगाव शरीर से है। इन्द्रियां जिन जिन भोगों को प्राप्त करती हैं, उन-उनके द्वारा शरीर का ही पोषण होता है। आत्मा तो उन सभी से निर्लिप्त रहता है। उसे न किसी भोग की आवश्यकता है, न कोई भोग उसका पोषण ही कर सकता है।

भोगवाद शरीर के लिए ही हितकर हो सकता है, आत्मा के लिए नहीं। आत्मा को तो अध्यात्म की आवश्यकता है। और अध्यात्म उसे कहते हैं जो मनुष्य को विषयों के भीषण गर्त से निकलने में सहायता दे सके।

यदि लौकिक अभ्युदय भी चाहते हैं तो भी भोगवाद हमारी सहायता नहीं कर सकता। उसके लिए भी हमें इन्द्रिय-तुष्टि वाले कार्यों से बचना अपेक्षित होगा। व्यर्थ के वितण्डावाद से दूर हटकर हमें वही करना चाहिए।

यदि लौकिक का अभ्युदय सिद्ध हो जाता है तो निःश्रेयस् की सिद्धि भी सहज सम्भव है। निःश्रेयस् का अभिप्राय मोक्ष प्राप्ति से है। लोक

में प्राणी शुभ कर्म करता है तो ही मोक्ष की भी प्राप्ति हो सकती है। इसलिए इन्द्रिय-तुष्टि वाले कर्म न तो लौकिक अभ्युदय की सिद्धि करते हैं, न पारलौकिक निःश्रेयस् की। इनके द्वारा तो हमें ऐसा कुछ मिल ही नहीं सकता, जिसे हम कोई महती उपलब्धि कह सकें।

परन्तु इन सब तथ्यों के समझने में निरन्तर बाधा उपस्थित होती रही है। बहुत-से लोग तो स्वयं ही नहीं समझना चाहते इन बातों को, और जो कुछ बेचारे समझना भी चाहते हैं, उन्हें समझने नहीं दिया जाता और उस समझ पर दूसरी समझ का आवरण डाल दिया जाता है। अब आप ही समझिये कि एक वस्तु को ढकने के लिए जब उस पर दूसरी वस्तु फैलाकर डाल दी जाय, तब नीचे वाली वस्तु कैसे दिखाई दे?

इसी प्रकार एक समझ को ढक दिया गया है दूसरी समझ से। दूसरी समझ पहली अपेक्षा अधिक आकर्षक, अधिक चमक-दमक वाली होती है। इसलिए पहली समझ पूरी तरह ढँक, दब जाती है दूसरी से।

मनुष्य का स्वभाव है कि जब दो वस्तुओं में एक अधिक चमकीली अधिक शोभित और अधिक आकर्षक लगती है, तब वही प्राप्त करने के लिए जी ललचाने लगता है। मन कहता है—उसमें ऐसा कुछ नहीं है, जिसकी कामना करके मुझे वहाँ जाना चाहिए। वह व्यर्थ है, जब कि दूसरी वस्तु उससे भी सुन्दर है।

सुन्दरता की वह होड़ मनुष्यों को पागल बनाये हुए है। वे उसी के आकर्षण में डूब जाते हैं, किन्तु नहीं समझते कि वह आकर्षण यथार्थ नहीं है। क्योंकि उसके भीतर झाँकने पर सुन्दरता के दर्शन ही नहीं होंगे। वह जो कुछ दिखाई दे रही है, बाहर की ही चमक-दमक है, जिससे आत्मा का कुछ उपकार होने वाला नहीं।

यथार्थ ज्ञान ही भोग-मोक्ष में सिद्धिप्रद

तो हमें उस ऊपरी समझ के आवरण से मुक्त होना होगा। बिना वैसा किये हम न तो अभ्युदय के भागी हो सकते हैं, न निःश्रेयस् के ही वरन् हम अधिकाधिक मोहादि दुर्भावनाओं के भागी होते जायँगे।

परन्तु विपरीत धारणा वाले लोग हमें उसी स्थिति में रखना पसन्द करेंगे। इसलिए यदि यह भोगवाद आपके लिए घातक होता है तो उनके लिए जीवनदाता बन जाता है। भोगवादियों का जीवन उसी में सुरक्षित है, जिसमें चाहे दूसरों की कितनी भी क्षति निहित हो, अपनी क्षति न हो।

किन्तु उस प्रकार के मनुष्य आपके शत्रु नहीं है। वे आपसे शत्रुता या द्वेष नहीं रखते, तो भी चाहते हैं वही हैं, जिससे उनका अपना भला हो सके। वे जो कुछ करते हैं अपने भले के लिए करते हैं, दूसरों का अपकार करने के लिए नहीं करते। अब यह बात दूसरी है कि अपना भला करने में ही किसी दूसरे का अपकार हो जाय।

संसार में वहुत से चिकित्सक हैं। उनका उद्देश्य रोगियों की सेवा करना अर्थात् उन्हें रोग से मुक्त करना है। उसी चिकित्सा कार्य में उनकी रोटी-रोजी भी निहित है। अब सोचिए कि यदि लोग बीमार ही न पड़ें तो उनकी रोजी-रोटी कैसे चले?

इसलिए चिकित्सकगण आशा लगायें कि संसार में बीमारी अवश्य फैलती रहे, तो उसमें उनकी दुर्भावना क्या है? लोगों के बीमार होने की जो कामना वे करते हैं, उसमें उनको रोजी-रोटी की समस्या ही तो हल होती है। फिर यदि किसी को बीमारी का दुःख उठाना पड़े तो उसका उसमें क्या वश हो सकता है?

इस प्रकार लोग बीमार पड़ते हैं तो चिकित्सक की रोटी चलती है और उस रोटी को चलाये रखने के लिए वह रोगियों की आशा करता है। परन्तु, यह भी तो देखिये कि उससे अधिक आपका शुभचिन्तक कोई दूसरा हो भी नहीं सकता। क्योंकि वह सदा आपके जीवन की कामना करता रहता है। वह चाहता है कि रोगी तो बने रहे, किन्तु मरें नहीं। यदि मर जाँयगे तो उनकी आमदनी में कमी हो जायगी। एक मरीज की मृत्यु का अर्थ हुआ उससे मिलने वाली आय से वंचित रह जाना।

इसी प्रकार जो आपको विपरीत ढँग का ज्ञान देते हैं, वे नहीं चाहते कि आप यथार्थ ज्ञान के भागी हो सकें। वे आपको आशीर्वाद दे सकते हैं, आपने सिर पर पाँव रखकर उपकृत कर सकते हैं, किन्तु यह नहीं चाह सकते कि आप उनकी यजमान-मण्डली से बाहर निकल जाँय। वे आपको सुखी तो करना चाहते हैं, किन्तु उतना सुखी नहीं करना चाहते कि आप उनसे आगे बढ़ जाँय।

हम नहीं कहते कि संसार में यथार्थ ज्ञान का उपदेश करने वाले नहीं हैं। किन्तु ऐसे लोग निश्चय ही आडम्बर हीते होंगे, जिन्हें आप सहज में नहीं पहिचान पायेंगे। यदि आपको कोई वैसा अनुभवी उपदेशक न मिल सके तो स्वविवेक से काम ले सकते हैं।

अनेक योगोपदेशक पुरुष इस कार्य में सक्षम हैं, जिनके द्वारा सही रूप में मार्गदर्शन मिल सकता है। योग की अनेक विधाएँ जन-सामान्य के लिए उपयोगी हो सकती है। अनेक योगाभ्यासी पुरुषों का अनुभव है कि योग साधनों में त्राटक योग इतना सरल है कि इसके अभ्यास द्वारा हम अपने चंचल मन को स्थिर बनाने में सफल हो सकते हैं। काम-ऊर्जा के ऊर्ध्वगमन में स्थिर मन ही सहायक हो सकता है।

त्राटक-साधना काम-वासना (सेक्स) में भी एक नवीन मोड़ देने में सहायक होती है। इसके द्वारा वासना की उद्दाम धारा को शान्त, स्थिर गति वाली तथा प्रेम-प्रवाहिनी बना सकते हैं। इसी के द्वारा काम-वासना का रूपान्तरण भोगवाद से हटकर अध्यात्मवाद के रूप में हो सकता है।

अक्षर ब्रह्म-ओंकार का त्राटक

त्राटक का अभ्यास आरम्भ करने से पहले भगवान ओंकार का अक्षर चित्र सफेद कागज, कपड़े या टीन प्लेट पर काली स्याही से तैयार करालें। ध्यान रहे लाल स्याही या रक्त वर्ण का उपयोग न हो। ऐसा चित्र लगभग २ फिट की दूरी पर मेज पर रखा रहे या दीवार पर टँगा रहे। यह दृष्टि के सामने या कुछ ऊपर भी हो सकता है। बैठने के लिए आरामदायक आसन् रहे।

त्राट से पूर्व निम्न प्रारम्भिक क्रियाओं को करने से त्राटक में शीघ्र सफलता प्राप्ति की आशा भी की जा सकती है।

१—दीर्घ ओंकार ध्वनि : कम से कम २७ बार दीर्घप्रणव की ॐ ध्वनि का उच्च स्वर से उच्चारण करें। घन्टे पर चोट मारने और छोड़ देने पर देर तक एक लम्बी ध्वनि का आभास होता रहता है। ऐसे ही एक पूरे श्वासमें एक बार ओंकार का उच्चारण करना चाहिए। आचार्यों का निर्देश है कि ओंकार का उच्चारण दीर्घ घन्टा नाद की तरह तो होना ही चाहिए परन्तु उसके शब्दों का स्पन्दन मूलाधार चक्र से उठना चाहिए। दीर्घ घन्टनाद की तरह ओंकार के उच्चारण की

ध्वनि नाभि से आरम्भ होकर कण्ठ की ओर चढ़ती अनुभव हो। ध्वनि के साथ यह भावना करनी चाहिए कि मेरे ओंकार उच्चारण से वह ध्वनि सारे विश्व में फैल रही है और अणु-अणु से प्रस्फुटित हो रही है। ऐसा लग रहा है जैसे सारा विश्व ओंकार का पवित्र उच्चारण कर रहा है, उस विराट् ब्रह्म की उपासना कर रहा है।

२—लम्बे गहरे श्वास के साथ तीव्र ओंकार ध्वनि, लम्बे गहरे श्वास के साथ तीव्र गति से ओंकार का उच्चारण करें। उच्चारण करते समय आगे की ओर या चक्राकार गति से झूम सकते हैं। कुछ समय के बाद ओंकार का उच्चारण 'हुँ' शब्द में परिवर्तित हो जाता है अथवा ॐ की बजाए 'हुँ' शब्द का उच्चारण होने लगता है। इसके लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता और न करना ही चाहिए। यह स्वाभाविक रूप से अपने आप घटित होता है। इसे सफलता का चिन्ह ही मानना चाहिए। 'हुँ' के अतिरिक्त 'हं' 'हां आदि शब्दों का उच्चारण भी होने लगता है। फिर इन शिष्यों का भी लय हो जाता है और केवल श्वास चलती रहती है।

इस विधि के अभ्यास त्राटक में स्थिरता और ध्यान में शीघ्र प्रवेश करने में विशेष सहयोग प्राप्त होता है, चमत्कारी ढंग से बहुत ही कम समय में 'ध्यान' में सफलता मिलना सम्भव हैं।

विधि और अनुभूतियाँ

ओंकार त्राटक के साथ ओंकार का उपांशु या मानसिक जप भी करें। चित्र पर खुले नेत्रों से अपलक देखते रहें। प्रधान प्रयत्न यह रहे कि आँख झपके नहीं। आरम्भ में अपलक दृष्टिका प्राप्त होना तो सम्भव नहीं है। बीच-बीच में जब रुकना सम्भव न हो तो आंखों को झपका सकते हैं, परन्तु प्रयत्न यह रहे कि अधिक से अधिक समय तक अपलक दृष्टि से भगवान ओंकार के अक्षर चित्र पर देखते रहें। जप भी साथ-साथ चलता रहे।

कुछ समय के सफल अभ्यास के बाद नेत्र ओंकार चित्र पर स्थिर होने लगते हैं। स्थिरता के साथ माला पर थिरकतीं अंगुलियां रुक जाती हैं, वाणी से जप भी रुक जाता है अथवा वाणी मौन हो जाती है। जब तक नेत्र तक स्थिर रहते हैं, साधक की यही स्थिति रहती है।

यह आवश्यक नहीं कि नेत्र आरम्भ से ही स्थिर होने लगेंगे। आरम्भ में कुछ क्षणों के लिए स्थिर रहना भी आशा जनक प्रतीत होगा। कभी-कभी कुछ क्षणों के लिए टिकेंगे, फिर अस्थिर हो जायेंगे। इस तरह साधना काल में कभी एक बार, दो बार, अथवा चार-पाँच बार स्थिरता आ सकती है।

स्थिरता का बढ़ना सफलता का चिन्ह माना जाता है। पूरे खुले नेत्रों से त्राटक में असुविधा प्रतीत हो तो अर्द्धखुले नेत्रों से अभ्यास करें। अर्द्ध खुले नेत्रों से अधिक देर तक चित्र की ओर देखने में सुविधा रहती है। स्थिरता के लिए भी इससे सहयोग मिलता है।

जब कुछ समय के लिए नेत्र चित्र पर स्थिर हो जाते हैं तो हाथ रुक जाते हैं। हाथों के रुकने के साथ माला भी रुक जाती है और जप नहीं हो पाता, वाणी भी मौन हो जाती है। दोनों हाथ शिथिल हो जाते हैं। हाथों की शिथिलता के साथ शरीर के अन्य भाग अथवा पूरा शरीर भी शिथिल हो सकता है या किसी ओर भी गिर सकता है। यह त्राटक योग में आगे बढ़ने के लक्षण हैं।

ध्यान में शारीरिक शिथिलता के साथ शरीर धीरे-धीरे किसी ओर भी झुककर गिरने की स्थिति में आ सकता है। शिथिलता धीरे-धीरे बढ़ती है और शरीर का गिरना भी धीरे-धीरे होता है। अंत में पूरा शरीर गिर जाता है। अभ्यास के साथ समय में भी परिवर्तन होता रहता है। यदि परिवर्तन ४५ मिनट के त्राटक और ध्यान से शरीर गिरता है तो बाद में ३० मिनट में ही गिर जाता है। फिर इससे भी कम समय लगता है।

ध्यान के समय ऐसा लगता है कि बाहों व टांगों की नसें तन रहीं हैं, उनमें बिजली दौड़ रही है, अन्यथा गर्मी बढ़ रही है। झनझाहट करना अनुभव होता है। हाथ पैरों से यह विद्युत प्रवाह बाहों में ऊपर की ओर बढ़ता है और फिर सारे शरीर में फैल जाता है। साधना के समय विद्युत प्रवाहित होती ही हैं। सफल साधकों में यह विद्युत प्रवाह स्थायी रूप धारण कर लेता है और किसी भी समय इस ब्रह्म कीर्तन को सुना जा सकता है।

भगवान् ओंकार में अक्षर चित्र पर जब नेत्र अधिक देर तक स्थिर होने लगते हैं तो चित्र कभी काला, कभी मटमैला और कभी चमकीला दिखाई देता है। काला भाग गहरा काला नहीं रहता। वह हल्का होने लगता है। हल्का होने पर हल्का सुनहरा या हल्का पीला हो सकता है। यही हल्का और यही गहरा भी हो सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी चतुर कलाकार ने अपनी उच्चकला का प्रदर्शन किया है।

इसके बाद चित्र के ऊपर या नीचे का कोई भी भाग ओझल होने लगता है। अक्षर चित्र का ऊपरी भाग पूरा दृष्टिगोचर नहीं होता, कटा हुआ सा प्रतीत होता है। कभी-कभी बीच-बीच में धब्बे भी दिखाई दे सकते हैं। सितारों की झिलमिलाहट की सी अनुभूति भी हो सकती है। धीरे-धीरे ओंकार का पूरा चित्र अदृश्य हो जाता है। कुछ भी दिखाई नहीं देता। शून्य ही शेप रह जाता है। कुछ न दिखाई देने पर भी नेत्र अविचल रहते हैं। साधना विकसित होने पर खुले अविचल नेत्र अपने आप बन्द हो जाते हैं। साधक आन्तरिक ध्यान में प्रविष्ट हो जाता है।

नेत्र स्थिर होने पर मन की चंचलता भी समाप्त हो जाती है। वह इधर उधर जाने का साहस नहीं कर सकता। ऐसा लगता है कि मन ठहर गया है अन्यथा उसका लय हो गया है। इस स्थिति में मनमें शान्ति-

दायक लहरें एक ओर से दूसरी ओर प्रवाहित होती हैं। मन चाहता है कि घन्टों इस आनन्ददायक स्थिति में आसीन रहे। यही कारण है कि साधक समय की परिधि को भी पार कर जाता है। यदि साधना पर बैठे एक घण्टा हो गया हो तो उसे ऐसा लगता है कि अभी कुछ मिनट ही हुए हैं।

मन की स्थिरता के साथ विचारों की गति भी कम होने लगती है। धीरे-धीरे निर्विचार स्थिति भी आ सकती है। इस निर्विचार स्थिति से साधक समाधि अवस्था में प्रविष्ट होता है।

सफल त्राटक साधना से जब नेत्र स्थिर होने लगते हैं तो शरीर शिथिल होने लगता है और एक ओर से या पीछे की ओर धीरे-धीरे झुकने लगता है और फिर गिर भी जाता है। ऐसा लगता है कि शरीर की सारी पकड़ शिथिल हो गई है। सम्पूर्ण प्राण शक्ति बाहर से अन्दर की ओर चली गई है। शरीर निःचेष्ट निर्जीव जैसा प्राण हीन हो गया है, ढीला हो गया है, शिथिल हो गया है। शरीर के शिथिल होने के साथ श्वांस भी शिथिल और शान्त हो जाती है।

साधना जब प्रगति पथ पर आरूढ़ होती है तो शरीर और श्वांस की शिथिलता के बाद मन भी शिथिल होता है। मन विचार शून्य और खाली होने लगता है, विचारों के आने से सभी मार्ग बन्द हो जाते हैं, मन विचारों से रिक्त हो जाता है। ऐसा लगता है जैसे विचारों से नाता टूट गया है अथवा विचारों ने अपना मार्ग बदल दिया है या वह कहीं समा गए हों। विचारों के अभाव में मन शान्त और शून्य हो जाता है।

शरीर, श्वांस और मन के शिथिल होने पर कामोत्तेजना शान्त होने लगती है, कामुक विचारों, भावनाओं और प्रवृत्तियों में चमत्कारी

परिवर्तन होने लगता है। उनको किसी दृढ़ प्रेरक या व्रत से रोकना नहीं है, न ही उनका दमन करना है। दबने पर वह पुनः उछलेंगी। उनका मार्ग बदलना है, उनका सहज में ही रूपान्तरण करना है ताकि उस शक्ति का उपयोग जीवन निर्माण के अन्य कार्यों में सफलतापूर्वक किया जा सके। शिथिलता से काम दबता नहीं है। शांत होता है। विलीन होता है, काम की उछलती, कूदती, भड़कती और नृत्य करती रंगीन लहरों का प्रवाह भी शिथिल हो जाता है। मनरूपी गहन समुद्र में काम रूपी लहरों का उठना तो बन्द हो जाता, केवल उठना ही नहीं, उनका बनना ही बन्द हो जाता है जब लहरें नहीं उटती तो समुद्र शांत रहता। कामुक लहरों के अभाव में मन भी शांत रहता है।

काम को एक शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। उसकी क्रिया में तो शक्ति के उत्थान का आभास होता है परन्तु प्रतिक्रिया में ह्रास होने लगता है। अतः जो काम के प्रभाव क्षेत्र में जीवित रहता हैं वह शक्तिहीन पड़ा रहता है। इसके विपरीत जो काम के उचित उपयोग की विधि जानता है उसका रूपान्तरण करता है उसे शांत और शून्य करने की साधना में सफल हो जाता है, वह जीवन निर्माण में काम आने वाली महान शक्तियों को सुरक्षित रखने की प्रक्रिया को अपनाता हैं। त्राटक साधना से मानव की आमशक्ति का प्रवाह बदलता है, शक्तियाँ सुरक्षित रहती हैं, उनका एक वृहद्‌कोश एकत्रित होता रहता है। इसीलिए त्राटक सिद्ध व्यक्ति में असाधारण शक्तियों का विकास होता प्रतीत होता है और वह चमत्कार जैसे असाधारण कार्यों का सफल सम्पादन कर सकता है।

काम की उभरती और उछलती तरंगों को रावण जैसे चारों वेदों के महापण्डित, सृष्टि की रचना करने की असाधारण सामर्थ्य रखने वाले विस्वामित्र, धरा को भक्ति भावना से ओत-प्रोत करने वाले नारद

और मुनियों में श्रेष्ठ 'पाराशर' जैसे व्यक्तित्व भी नहीं रोक सके। इससे काम की आक्रमण शक्ति का सहज में ही मूल्यांकन किया जा सकता है। त्राटक योग में साधक इस शक्ति से युद्ध नहीं करता है वरन् उसका मार्ग बदल देता है। इस मार्ग परिवर्तन को ऋषियों ने जीवन की महानतम सफलता की संज्ञा दी है क्यों कि व्यवहार में देखा गया है, कि कभी-कभी उच्चतम सिद्ध साधकों ने भी कामके सामने घुटने टेक दिये हैं। त्राटक योग में किसी कष्ट प्रद तपश्चर्या के बिना यह क्रिया सहज में ही सफल हो जाती है।

—※—

भगवान ओंकार के छाया चित्र पर त्राटक

डेढ़ फुट लम्बे और एक फुट चौड़े सफेद कागज अथवा टीन की प्लेट लें। कागज को एक पट्ठे पर चिपकालें और टीन प्लेट पर सफेद पेंट करें। काली स्याही अथवा रङ्ग से भगवान ओंकार का एक ऐसा छाया चित्र बनाएं जिसमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों देवताओं का वह सम्मिलित रूप दिखाई दे रहा हो। कमल पर स्थित एक हाथ में वेद और दूसरे में शंख, गलें में सर्प, पीताम्बरधारी चित्र हो। भगवान ओंकार का वाहन-हंस अलग दिखाई दे रहा हो। चित्र कों २-३ फीट की दूरी पर दीवार पर टाँग लें या छोटे मेज पर रख लें।

छाया चित्र को अपलक दृष्टि से देखना आरम्भ करें। नए साधकों को स्थिर दृष्टि पात्र होने में सफल लगेगा। नेत्र बीच में झपक सकते है। साधना में धैर्यपूर्वक लगे रहें। एक दिन सफलता अवश्य मिलेगी जब नेत्र स्थिर होने लगेंगे तो ऐसा अनुभव होगा कि काले छाया चित्र के चारों ओर दिव्य प्रकाश दिखाई दे रहा है। यदि काले छाया चित्र को हटा दिया जाये तो वह सफेद प्रकाश का भगवान ओंकार का स्पष्ट चित्र दृष्टिगोचर होने लगेगा। सफेद प्रकाश का प्रकट होना साधना में प्रगति का सूचक है। यदि प्रकाश उभरता नहीं है तो समझना चाहिए कि सभी साधना प्रारम्भिक स्तर पर ही है।

धीरे-धीरे काला रंग हल्का होता चला जायगा और उस पर एक सफेद फीका आवरण चढ़ता चला जायगा। स्थिरता के अभाव में सफेद आवरण हट जायगा और काला रंग उभर आयगा। इस तरह से काले और सफेद का क्रमशः अदृश्य होना और चमकने का क्रम बना रहेगा साधक को ऐसा प्रतीत होगा कि छाया चित्र में प्राण प्रवाहित होने के चिन्ह दृष्टिगोचर होने लगे हैं क्यों कि भगवान ओंकार के विभिन्न अङ्ग गतिशील होते दिखाई देते हैं। स्थूल शरीर से एक प्राण शरीर अलग होकर पीछे की ओर या सामने स्थित दिखाई देता है। एक से दो शरीर दिखाई देने लगते हैं। यह दोनों चित्र भी एक स्थान पर स्थित नहीं रहते वरन् उनमें भी गति बनी रहती है, जब दोनों शरीरों पर दृष्टि स्थिर बनी रहे तो समझना चाहिए कि साधना द्रुत गति से बढ़ रही है। दो शरीर फिर एक हो जायेंगे। काले पर सफेद आवरण प्रभावी सिद्ध होगा और ऐसी भी सौभाग्य की घड़ी आयगी जब काला रंग पूर्णतः अदृश्य हो जायगा और सफेद उज्जवव प्रकाश ही शेष रह जायगा। इस स्थिति में त्राटक बना रहे तो साधक का उच्च अध्यात्मिक भूमिका में प्रविष्ट होना माना जायगा क्योंकि भगवान ओंकार

के छाया चित्र के पूर्णतः ओझल होने पर श्वास बहुत धीमी हो जाती है, मन स्थिर हो जाता है। विचार का आगमन रुक जाता है, शांति की लहरें मनःक्षेत्र में प्रवाहित होने लगती हैं और समाधि अवस्था प्राप्त होने की सम्भावना बढ़ जाती है। २-३ घंटे के त्राटक का अभ्यास बना रहे। तो समाधिस्थ होने की धन्य घड़ी भी आ सकती है।

एक दो शरीर होने का अर्थ है सृष्टि की रचना दोनों चित्रों का स्थिर रहने का अभिप्राय है उसे रचित सृष्टि का बने रहना और दो का एक होने का संकेत है—सृष्टि का लय होना। ब्रह्मा सृष्टि की रचना करते हैं, विष्णु इसका पालन-पोषन करते है और शिव उसका लय करते हैं। यह तीनों स्थितियाँ ओंकार साधना में प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होती रहती हैं। साधना में तीनों स्थितियों का प्रत्यक्ष दिखाई देना इस तथ्य का प्रमाण है कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव-तीनों देवता ओंकार में स्थित हैं। तीनों का सम्मिलित रूप ही ओंकार है। ओंकार में सृष्टि, पालन और नाश के तीनों गुण विद्यमान हैं। ओंकार साधक विश्वामित्र की तरह नई सृष्टि की रचना करने की क्षमता रखता है। नए विचारों, भागों, भावों और अनुभूतियों को जन्म देता है। ओंकार से प्राप्त शक्ति स्थिर रहती है, जिन सद्‌विचारों की रचना हुई है, वह जीवन के अन्त तक बने रहते हैं और साधक को विकास पथ पर अग्रसर रहने में सहायक सिद्ध होते हैं। कुविचारों, कुप्रवृत्तियों और कुभावनाओं को ओंकार विनष्ट भी करते चलते है और पुराने जन्मों के संस्कारों की निवृत्ति करते रहते हैं। इस तरह से वह ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों देवताओं का कार्य स्वयं सञ्चालित करते हैं। दिव्य क्षमतायें विकसित होने लगती हैं और पूर्णता के पथ पर आरूढ़ होने की सम्भावना दिखाई देने लगती है।

भगवान ओंकार के छाया चित्र के अदृश्य होने का अभिप्राय यह

है कि साधकके शरीर भावका लोप होकर आत्मभाव जाग्रत हो रहा है। अब उसे सुख दुःख की अनुभूतियाँ प्रभावित नहीं करतीं। दोनों को एक रूप में देखने लगता है। सुख अधिक हर्षित और दुःख में चिन्तित नहीं रहता। कामदेव आदि अपनी चंचल वृत्तिका प्रदर्शन करके साधक के मन पर आक्रमण करता है, तो साधक में इतनी क्षमता विकसित हो कि वह अपने तृतीय नेत्र विवेक की आंख को खोलकर काम भाव को नष्ट कर दे। कामुक प्रवृत्तियाँ उसे अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकतीं। भौतिक धन सम्पत्ति की हानि उसे विचलित नहीं करती। विरोधी परिस्थितियाँ उसे निराश नहीं करतीं। वह अडिग रूप से अपने कर्तव्य पथ पर चलता है। वह भाव में स्थित रहता है। आवेश, उत्तेजना और क्रोध उसे स्पर्श तक नहीं कर सकते क्योंकि इनका सम्बन्ध भी शरीर से ही है। अकाम वृत्ति जाग्रत होती है। धन के आकर्षण में वह भ्रष्टता, बेईमानी, चोरी, आदि का सहारा नहीं लेता। अपना स्वयं का शरीर तो साधक को छाया मात्रा प्रतीत होने ही लगता है, दूसरे प्राणियों में भी उसे ऐसी अनुभूतियाँ होने लगती हैं। शरीर का नाश होना उसके लिए केवल वस्त्र बदलने जैसी एक सामान्य क्रिया मात्र ही रह जाती है। वह अपनी मृत्यु को प्रत्यक्ष रूप से देख लेता है। इसलिए मृत्यु से भयभीत नहीं होता। अन्य किसी सम्बन्धी या घनिष्ट मित्र की मृत्यु पर भी वह दुःखी नहीं होता। यही कारण है कि भौतिक परिवर्तनों के शुभ अशुभ परिणामों से वह पूर्णतः अप्रभावित रहता है। वह अपने भविष्य की चिन्ता नहीं करता क्योंकि शरीर भाव गिरने पर उसका कोई भविष्य ही नहीं रहता। भविष्य ही नहीं रहता। भविष्य की चिन्ता समाप्त होने पर हीं उसे पूर्ण शान्ति प्राप्त होती है। अहंभाव की निवृत्ति से ही यह परम सौभाग्य की उच्च स्थिति जाग्रत हो सकती हैं।

मन की चंचलता प्रसिद्ध है ऋषि मुनि भी इसकी चंचलता से

परेशान रहे हैं । अर्जुन जैसे उच्च कोटि के साधक ने भी भगवान कृष्ण से निवेदन किया था कि यह सहज में एकाग्र नहीं होता । राम ने वशिष्ठ से उसकी स्थिरता के उपाय पूछे थे । अध्यात्म की सभी साधनायें इसी पर केन्द्रित रहती हैं । मन पर विजय प्राप्त करने वाला साधक ही सफल माना जाता है । हजारों लाखों, साधकों में से विरले ही कोई ऐसे होते हैं जो मन को स्थिर करने में सफल हो पाते हैं । शेष तो उसकी चंचल वृत्ति की शिकायत ही करते रहते हैं ।

नाटक के सफल साधक को यह सौभाग्य प्राप्त होता है कि उसका मन में सहज में ही पवित्र, एकाग्र और स्थिर होने लगता है । उसके लिए वह शुभ घड़ी शीघ्र ही आती प्रतीत होती है जब उसे यह अनुभव होने लगता है कि मन की सभी प्रकार की चंचलता, उछल कूद और गति स्थगित हो गई है और एक ठहराव सा आ गया है । मन इस प्रकार से तीव्र वायु भी किसी सांसारिक विचार के भीतर आने नहीं देती । सभी वातावरण इतना संशोधित और शांत हो जाता है कि वह पवित्र स्थान सभी सांसारिक कर्मों, शब्दों, विचारों और प्रकाश से शून्य सा हो जाता है । काम के विचार भाव और वृत्तियाँ भी वहाँ प्रविष्ट नहीं हो सकतीं । काम देव यदि वहाँ प्रविष्ट होने का प्रयत्न करता तो उसे द्वार बन्द मिलते हैं । यदि द्वार को किसी अन्य उपाय से खोलने अथवा तोड़ने का प्रयत्न करता है तो उसे यह भी भय रहता है कि साधक का त्रिनेत्र खुल गया तो वह भस्म भी हो सकता है ।

साधारणः मन कम्पित दशा में रहता है । हर क्षण उसमें कम्पन होते रहते हैं । इस कम्पन के कारण ही कामुक विचार उसमें सहज में ही प्रविष्ट कर जाते हैं । यह कम्पन ही अस्थिरता लाती है, काम के लिए छिद्र बनाती है । जब यह कम्पन बंद होती है तो इस निष्कम्प दशा में सभी ओर से छिद्र बंद हो जाते हैं । कोई भी काम विचार

उसमें प्रविष्ट नहीं हो पाता। चारों ओर एक सुदृढ़ दीवार सी खड़ी हो जाती है त्राटक से ऐसी प्रत्यक्ष अनुभूति होती है।

मन जब स्थिर होता है तो शांति की लहरें चारों ओर प्रवाहित होती प्रतीत होती हैं। मन की उस शांत स्थिति में काम का प्रवेश नहीं हो पाता। अशान्त और कम्पित मन से काम सहज में ही प्रविष्ट हो जाता है और मन को अपने वश में कर लेता है। त्राटक से शरीर और मन शिथिल हो जाते हैं, कम्पन बन्द हो जाती है, गति रूक जाती है, अकम्प स्थिति आती है, काम के सभी द्वार बन्द हो जाते हैं। अब निर्विचार स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यह निर्विचार स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यह निर्विचार स्थिति ही समाधि का मार्ग प्रशस्त करती है।

काम की तृप्ति में जिस क्षणिक और अस्थायी अनन्य की प्राप्ति प्रतीत होती है, उससे हजारों गुना अधिक आनन्द की अनुभूति समाधि अवस्था में प्राप्त होती है। मानव की सभी गतिविधियाँ आनन्द की प्राप्ति के लिए ही होती है। जब समाधि का आनन्द नहीं प्राप्त हो पाता तो वह काम की ओर दौड़ता है. परन्तु जिसे एक बार भी समाधि के आनन्द की झलक प्राप्त हो जाती है, वह काम से आनन्द प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करता। त्राटक से मन शान्त और स्थिर होता है, अतः वह काम के सशस्त्र आक्रमणों से भी सुरक्षित रहता है और उस पर अपनी विजय पताका फहराने में सफल हो जाता है।

भगवान शिव के छाया चित्र पर त्राटक

डेढ़ फुट लम्बे और एक फुट चौड़े सफेद कागज अथवा टीन की प्लेट लें। कागज को एक छोटे पट्ठे पर चिपका लें और टीन प्लेट पर सफेदपेण्ट करें। काली स्याही अथवा रङ्ग से भगवान् शिव का एक ऐसा छाया चित्र बनाएँ जिसमें वह समाधिस्थ दिखाई दें, जटाजूट में से गङ्गा प्रवाहित होती हो और गले में सर्प लिपटे हों। चित्र को २-३ फुट की दूरी पर दीवार पर टाँग लें या मेज पर रख लें।

छाया चित्र को अपलक दृष्टि से देखना आरम्भ करें। कुछ समय के बाद दृष्टि में स्थिरता आने लगेगी। स्थिरता आने पर दिव्य प्रकाश छाया चित्र को चारों ओर से घेर लेता है जिससे छाया चित्र की आभा में वृद्धि दिखाई देती है। इसलिए दिव्य प्रकाश का दिखाई देना साधना में भावी विकास का मूलक है।

धीरे-२ काले रङ्ग में परिवर्तन आने लगता है। रङ्ग फीका होने लगता है और कुछ समय के बाद सफेद झीना सा आवरण चित्र पर आना आरम्भ होता है। कुछ ही क्षणों में वह सारे चित्र पर छा जाता है। अब चित्र काले रङ्ग का नहीं वरन् सफेद मटमैले वर्ण का दृष्टि-गोचर होता है। कभी-२ किनारों पर काला रङ्ग भी दिखाई देता रहता है। सफेद आवरण अभी स्थायित्व धारण नहीं कर पाता। बीच-२ में जब कभी पलक झपकते हैं अथवा उसके बिना भी काला रङ्ग फिर उभर आता है। काले और सफेद आवरण की आंख मिचौली चलती ही रहती है।

स्थिरता बढ़ने पर एक के दो चित्र होने का चमत्कारिक दृश्य दिखाई देने लगता है। यह दूसरा चित्र पहिले के पीछे या सामने साथ में हो सकता है। पहला चित्र काले रङ्ग का ही रहता है, परन्तु दूसरा सफेद हल्के आवरण का सा प्रतीत होता है। दोनों चित्रों के स्थान परिवर्तित होते रहते हैं, उनमें गति होती है। बीच-- में दूसरा चित्र पहले में समाकर एक हो जाता है और फिर एक में से दो स्पष्ट रूप से बनते दिखाई देते हैं। इससे साधक को विश्वास हो जाता है कि उसकी आत्मा-परमात्मा से अलग होकर पञ्च भौतिक शरीर धारण करके इस जगत में विचरण कर रही है परन्तु निश्चित रूप से वह उसी परमपिता में मिलकर एक हो जायगी। बूँद समुद्र में मिलकर अपना अलग अस्तित्व खो देती है और समुद्र हों जाती है। आत्मा भी परमात्मा में समाकर अपना अलग अस्तित्व खो देती हैं और परमात्मा बन जाती है।

साधना का विकास होते रहने पर ऐसी घटनाएँ घटित होनी आरम्भ हो जाती हैं जिनकी कभी कल्पना भी नहीं की थी। काला छाया चित्र अथवा सफेद आवरण चित्र दिखाई देते रहने पर भी इनसे अलग एक ओर को स्त्री पुरुषों के रङ्ग-विरंगे और आकर्षक चित्र उभर कर आते हैं। यह अलग-अलग अथवा समूह में भी हो सकते हैं। आकार-प्रकार में परिवर्तन हो सकता है। सिनेमा में बदलते दृश्यों की तरह यह रीलें भी हर क्षण बदलती रहती हैं। स्त्री पुरुषों के अतिरिक्त किसी भी प्रकार मनोहारी प्राकृतिक दृश्य भीं दिखाई दे सकते हैं। इन चित्रों के बनने, बिगड़ने और फिर नए चित्रों के निर्माण में कुछ ही क्षण लग पाते हैं। सफेद कागज अथवा टीन की प्लेट में रङ्गीन, गतिशील और प्राणवान आकृतियों का सहसा अवतरित होना इस तथ्य का द्योतक है कि घर-२ में वह विराट् पुरुष विद्यमान है और हर वस्तु में उसके दर्शन

किए जा सकते हैं। धन्य है वह साधक जिन्हें जड़ वस्तुओं में भी विराट् के दर्शन होते हैं। ऐसे उच्च कोटि के साधकों को पत्थर और मिट्टी में भी ऐसी रंगीन आकृतियाँ दिखाई देती हैं। इससे सिद्ध होता है कि यदि देखने वाले की दृष्टि स्वच्छ और निर्मल हो तो वह संसार की हर वस्तु में, कण–कण में प्रभु को खुले नेत्रों से देख सकता है।

प्रगतिशील साधक के लिए वह धन्य घड़ी भी आती है, जब छाया चित्र और सभी प्रकार की आकृतियाँ अदृश्य हो जाती हैं। इनके स्थान पर केवल दिव्य प्रकाश ही शेष रह जाता है। इस प्रकाश के ध्यान में स्थिरता बनी रहती है। यह स्थिरता साधक के लिए परम सौभाग्य की स्थिति लाती है। यह साधक के अभ्यास पर निर्भर करता है कि वह कितने समय तक इस ध्यान की दशा में रह सकता है। ध्यान की यह परिपक्व अवस्था अपने साथ शान्ति और आनन्द की दिव्य लहरें भी लाती है। साधक चाहता है कि इन दिव्य लहरों के प्रवाह में अनिश्चित समय तक स्नान करता ही रहे। इस आनन्द में उसे ऐसा आकर्षण प्रतीत होता है कि वह उठ ही नहीं पाता। अधिक समय व्यतीत होने का भी कुछ भान नहीं होता। अपना आपा खोकर वह प्रभु की गोद में पड़ा रहकर झूमता है। इस आनन्द दायक स्थिति को समाधि अवस्था की संज्ञा दी गई है। वे जो भगवान शिव की त्राटक साधना से प्राप्त होती है।

त्राटक साधना से भगवान शिव से जब साधक की तदाकार वृत्ति उत्पन्न हो जाती है, शिव और साधक जब एक हो जाते हैं, दोनों में अभिन्नता स्थापित हो जाती हैं तो शिव के गुण साधक के अन्तःकरण में अवतरित होने लगते हैं, गुणों की दृष्टि से साधक शिव का रूप धारण करने लगता हैं।

शिव अपने आक्रामक कामदेव को तृतीय नेत्र खोलकर भस्म कर देते हैं। तृतीय नेत्र का अभिप्राय विवेक अथवा ज्ञान दृष्टि से है, इन

उच्च आध्यात्मिक शक्तियों से सम्पन्न साधक के मन में काम भाव उद्दीप्त नहीं हो सकते। यदि होते भी हैं तो विवेक से उनकी निवृत्ति हो जाती है। त्राटक से साधक का सुप्तावस्था में पड़ा यह नेत्र जाग्रत हो जाता हैं। जिनका तीसरा नेत्र जाग्रत हो जाता है उन्हें सूक्ष्म ब्रह्म तत्व स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होता है, इसमें ही वह सदैव विचरण करता है। ऐसे सौभाग्यवान को तो आत्मा और परमात्मा के दर्शन होते हैं। त्राटक से इस स्थिति तक पहुँचना सम्भव है क्योंकि अज्ञान से मनः क्षेत्र में जो पाप रूपी वासनाएँ पनपती रहती हैं, वह ज्ञान चक्षु के खुलने से जलकर भस्म हो जाती हैं।

त्राटक साधना में प्रगति हो रही है या नहीं इसका स्पष्ट चिह्न यह है कि श्वास की गति धीमी होती जाती है। यदि श्वास की गति पहले जैसी चलती अनुभव हो तो समझना चाहिए कि साधना में विशेष सफलता प्राप्त नहीं हो रही है। सफल अभ्यास से श्वास की गति धीरे-धीरे बहुत ही धीमी हो जाती है। कभी-२ ऐसा अनुभव होता है जैसे श्वास बन्द होने जा रही है। कुम्भक जैसी स्थिति भी हो सकती है।

यह एक वैज्ञानिक और अनुभव सिद्ध तथ्य है कि श्वास के शिथिल कम और धीमी होने पर कामुक विचार, भावनाएँ, वृत्तियाँ और वासनाएँ बिल्कुल शांत हो जाती हैं। शिथिल श्वास में काम वासना टिक नहीं सकती यदि कोई भाव आता भी है तो लीन हो जाता है। कामोत्तेजना को शांत करने का सरल उपाय है—श्वास को शिथिल और धीमी करना। त्राटक से यह प्रक्रिया सहज रूप में सम्पन्न हो जाती है। जिस साधक ने त्राटक द्वारा श्वास को शिथिल करने का अभ्यास कर लिया है, समझना चाहिए कि उसने काम पर विजय प्राप्त कर ली है, वह शिवत्व की ओर बढ़ रहा है। यदि कभी कामदेव ने उसे उत्तेजित और प्रभावित करने का प्रयत्न किया तो वह साधक के जाग्रत

तृतीय नेत्र से भस्म हो जाएगा। अतः यदि कामदेव की सूझ-बूझ ने साधक की शक्ति का मूल्यांकन करने का प्रयत्न किया तो वह भस्म होने की निश्चित सम्भावना से आक्रमण करने का भी साहस नहीं करेगा।

वास्तव में काम का आक्रमण भी निर्बल मन वाले व्यक्ति पर ही होता है जो सहज में घुटने टेक देता है। जिस साधक ने त्राटक साधना द्वारा मन को सबल बना लिया हैं, अथवा मन पर विजय प्राप्त कर ली है और उसके निर्देश पर चलने की बजाय, उसे निर्देश करने की क्षमता वाला हो जाता है, उसे काम प्रभावित नहीं कर सकता है।

साधना के दीर्घकालीन अभ्यास से जब मन पवित्र, एकाग्र और स्थिर होने लगता है और श्वास शिथिल, कम और धीमी से धीमी होने लगती है तो मन का भी ठहराव होने लगता है। ऐसा अनुभव होता हैं कि मन का लय हो गया है, मन रहा ही नहीं। यह स्थिति आने पर मन गहरे में प्रवेश करता है और शांति के समुद्र में गोते लगाने लगता है। ऐसा शांत मन काम शून्य हो जाता है। उसके मन में स्थित काम का समग्र रूप से रूपांतरण हो जाता है। धन्य है ऐसा साधक जिसे यह महान सौभाग्य प्राप्त होता है।

भगवान कृष्ण के छाया चित्र पर त्राटक

डेढ़ फीट लम्बे और एक फुट चौड़े सफेद कागज अथवा टीन की प्लेट लें। कागज को एक पट्ठे पर चिपका लें और टीन प्लेट पर सफेद पेण्ट करें। काली स्याही अथवा रंग से भगवान कृष्ण का एक ऐसा

छाया चित्र बनाएँ जिसमें वे जानी पहचानी निश्चिन्तता और मस्ती की मुद्रा में बाँसुरी बजाते हुए खड़े हैं। चित्र को २-३ फीट को दूरी पर टांग लें या मेज पर रख लें।

छाया चित्र को अपलक दृष्टि से देखना आरम्भ करें। दृष्टि स्थिर होने में कुछ समय लग सकता है। यह आवश्यक नहीं कि देखना आरम्भ करते ही अनुभूतियों का प्रकट होना शुरू हो जाए। स्थिरता आने पर छाया चित्र के चारों ओर प्रकाश की एक विमल धारा प्रवाहित होने लगती है। पलक झपकने पर वह प्रकाश भी अदृश्य हो जाता है। स्थिरता बनी रहने पर प्रकाश भी बना रहता है। प्रकाश का बना रहना साधना में प्रगति का चिह्न माना जाता है।

अभ्यास बढ़ने पर छाया चित्र का रंग बदलने लगता है। कभी काला रंग अधिक गहरा और चमकीला दिखाई देता है और कभी वह हल्का हो जाता है। जहाँ रंग हल्का दिखाई देता है, वहाँ हल्की सफेदी सी दृष्टिगोचर होने लगती है। यह सफेदी धीरे-धीरे बढ़ती रहती है और वह भी समय आता है जब यह सफेदी पूरी तरह चित्र पर छा जाती है। काला रंग बिल्कुल दिखाई नहीं देता। प्रकाश ही प्रकाश शेष रह जाता है। दिखाई देने वाला संसार जब दृष्टि से ओझल हो जाता है, मिट जाता है तो परमात्मा प्रकट होता है। स्थूलता नष्ट होने पर सूक्ष्म का आविर्भाव होता है। संसार के अदृश्य होने पर परमात्मा उभर कर आता है। परमात्मा तो कण-कण में पहले से ही स्थित है। जिस क्षण भी संसार के अस्तित्व की अनुभूति समाप्त होने लगती है, वहीं वे स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगते हैं।

काले रंग पर प्रकाश का पूर्ण रूप से प्रभावित करने का यह अभिप्राय है कि सामने दिखाई देने वाला संसार स्वप्न की तरह था जो लुप्त हो गया। वास्तव में संसार परमात्मा के लिए स्वप्न से अधिक नहीं है। जब तक साधक को संसार दिखाई देता है तब तक वह परमात्मा से दूर

रहता है, जब संसार एक स्वप्न के रूप में दृष्टिगोचर होने लगता है, तब वह परमात्मा से एकता प्राप्त कर लेता हैं। वह परमात्मा ही हो जाता है। तब वह सुविधा से कह सकता है—अहं ब्रह्मास्मि—मैं ब्रह्म हूं। भगवान कृष्ण संसार को स्वप्नवत् देखते थे। इसलिए उन्होंने अपने को परमात्मा कहने में सङ्कोच नहीं किया। उनकी यह घोषणा किसी प्रकार भी आपत्तिजनक नहीं है। वास्तव में यह उनकी उच्च आध्या-त्मिक स्थिति की द्योतक है।

त्राटक का अभ्यास बढ़ने पर एक के दो चित्र दिखाई देने लगते हैं। इसे चमत्कार ही कह सकते हैं! इस स्तर पर साधक का भी उत्साह वर्द्धन होना चाहिए कि वह निरन्तर आगे बढ़ रहा है। एक चित्र काले रंग का और दूसरा हल्के रंग का हो सकता है। दोनों चित्रों के स्थानों में परिवर्तन होता रहता है। उनमें गति भी दिखाई देती है। कभी-कभी यह भी आभास होता है कि उनमें प्राण सञ्चार हो रहा है। गति के साथ दोनों चित्रों की दूरी बढ़ती और कम होती रहती हैं। साधक अपने चर्म चक्षुओं से स्पष्ट रूप से देखता है कि दो चित्र एक हो रहे हैं, दूसरा पहले में समा रहा है। फिर एक से दो हो रहे हैं। एक से दो और दो से एक होने का दृश्य वह सिनेमा रील की तरह देखता रहता है। अब उसे पूरा विश्वास हो जाता है कि उसकी आत्मा ने परमात्मा से अलग होकर यह पञ्च तत्वों से निर्मित शरीर धारण किया। सृष्टि की रचना हुई। फिर आत्मा उसी परमात्मा में विलीन होकर एक हो जाएगी। स्वप्नवत् संसार मिट जाएगा तो दोनों एक हो जाएंगे। दोनों के बीच की संसार रूपी दीवार समाप्त हो जाएगी। जब तक संसार बना हुआ है, तब तक परमात्मा अति निकट होते हुए भी बहुत दूर बना रहेगा।

परमात्मा ने सृष्टि रचना करते हुए सङ्कल्प किया था कि एक से

दो हो जाऊँ । इस सङ्कल्प से आत्मा परमात्मा से अलग हो गई। फिर आत्मा परमात्मा में विलीन भी हो जाती है । परमात्मा पूर्ण है। उसके द्वारा निर्मित हर वस्तु पूर्ण है । जब सृष्टि की रचना होती है और कोई भी आत्मा उससे अलग होती है तो वह भी पूर्ण होती है । पूर्ण परमात्मा से निकलने वाली आत्मा भी पूर्ण होती हैं। परमात्मा से आत्मा के अलग होने पर परमात्मा में कुछ भी कमी नहीं आती वह पहले की तरह पूर्ण का पूर्ण बना रहता है। पूर्ण से पूर्ण कम होने पर पूर्ण ही शेष रहता है, उसमें कुछ भी कमी नहीं आती । वह ज्यों का त्यों बना रहता हैं। जब पूर्ण में पूर्ण मिल जाता है तो भी वह पूर्ण बना रहता है। उसमें कुछ भी वृद्धि नहीं होती। परमात्मा तो परमात्मा है ही। एक-एक व्यक्ति भी एक-एक अणु भी पूरे का पूरा परमात्मा है। एक-एक अणु पूरा विराट है। पूर्ण से अनन्त पूर्णमय कर दिया जाए तब भी पूर्ण ही शेष रह जाता है।

इस उच्च स्तर की आध्यात्मिक गणित को समझना कठिन है क्योंकि यह दो और दो चार वाली लौकिक गणित के बिल्कुल विपरीत है। त्राटक का साधक इसे व्यावहारिक रूप से देखता है। इसलिए उसे समझने में कुछ भी कठिनाई नहीं होगी बल्कि यह प्रक्रिया उसके जीवन का एक अंग बन जाती है।

साधना का उच्चस्तरीय विकास होता है तो भगवान कृष्ण से साधक की तदाकार वृत्ति उत्पन्न हो जाती है। भगवान कृष्ण और साधक एक और अभिन्न होने लगते हैं। दोनों में कोई अन्तर नहीं रह जाता। जब साधक केवल साधक ही नहीं रह जाता, वह भगवान का रूप धारण कर लेता है। उसके अन्तःकरण में भगवान कृष्ण के गुण अवतरित होने आरम्भ हो जाते हैं। एक समय वह भी आता है, जब साधक यह कहने का साहस करता है—मैं ही कृष्ण हूँ।

भागवत में भगवान कृष्ण और कामदेव के अनोखे युद्ध का वर्णन मिलता है। जब कामदेव की बलादिकों पर अपूर्व सफलता प्राप्त हो गई तो वह गर्व से फूला न समाया और भगवान कृष्ण के साथ युद्ध के लिए तैयार हो गया। वह भली प्रकार से जानता था कि वह अपनी योजना में सफल नहीं होगा। परन्तु उसने एक दु:साहस किया और भगवान को युद्ध के लिए ललकारा। भगवान ने उसकी चुनौती को सहर्ष स्वीकार किया और युद्ध क्षेत्र में उतर आए। काम अपने वृद्ध आक्रमणों में भी असफल रहे। भगवान हिमालय की तरह अडिग रहे। उनके मन पर काम का लेशमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा। भले ही वह काम क्रीड़ा में संलग्न रहे हों। कृष्ण की हजारों रानियों के होने का वर्णन भी आता है। व्यावहारिक दृष्टि से यो यह असम्भव सा ही प्रतीत होता है परन्तु यह अवश्य सिद्ध करना है कि वह पूर्ण काम थे। वह हजारों रमणियों के साथ रासलीला या अन्य किसी भी तथाकथित कामोत्तेजित करने वाले आयोजन में सम्मिलित रहें, परन्तु वह काम से अप्रभावित व अलिप्त ही रहते हैं। काम उनको स्पर्श भी नहीं कर सकता क्योंकि वह पूर्ण काम योगेश्वर हैं।

भगवान कृष्ण का छाया त्राटक करने वाला सफल साधक भी काम के सशस्त्र आक्रमणों को पूर्ण रूप से असफल कर देता है। यदि उसे ऐसे स्थान पर रहना पड़ रहा है जहाँ का वातावरण पूर्ण रूप से कामुक हो तो भी उसका मन भ्रमित नहीं होता। आज चल चित्रों, कहानी, उपन्यासों व पत्रिकाओं द्वारा निर्मित कामुक वातावरण में आलिप्त रहना सफलता का ही चिह्न हैं। साधक संसार में रहते हुए भी कमल की तरह उससे अलग व अलिप्त रहता है। सुन्दरियों को देखकर उसके मन में काम भाव उद्दीप्त नहीं होते वरन् उनका सौन्दर्य विलीन हो जाता है और वह छाया मात्र ही दिखाई देती हैं। जब साधक को अपना

शरीर छाया की तरह अनुभव होने लगता है तो दूसरों के शरीर भी उसे छाया की नृत्य करती पुतलियाँ ही दृष्टिगोचर होती हैं। इस उच्च स्थिति में कामदेव के लाख प्रयत्न करने पर भी अडिग रहता है। ऐसा महान सौभाग्य त्राटक साधक को प्राप्त हो सकता है।

सोने का त्राटक न करें

हर वस्तु के अपने विशिष्ट सूक्ष्म गुण होते हैं। इन्हें सात्विक राजसिक और तामसिक तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। सोना एक मूल्यवान धातु है। स्त्रियाँ उसके जेवरात पहनकर बड़े गर्व का अनुभव करती हैं। इसमें राजसिक गुण विद्यमान है। सोने के जेवरात पहनकर राजसिकता का विकास स्वाभाविक है। त्राटक से यह गुण स्पष्ट रूप से उजागर होता दिखाई देता है। इसलिए आध्यात्मिक साधना में रत साधक के लिए सोने के त्राटक का निषेध माना गया है। क्योंकि इससे कामुकता का विकास होता है।

सोने के त्राटक से ऐसा प्रतीत होता है कि उसके भीतर पीत वर्ण के सैकड़ों वल्व जल रहे हैं जिससे चारों ओर प्रकाश ही प्रकाश दिखाई देता है। पीत-वर्ण के प्रकाश सेसुसज्जित नगर की भी अनुभूति होती है। नगर की आकृति में परिवर्तन होता रहता है। कभी चौकोर, कभी वर्तुलाकार और चक्राकार नगर के दृश्य दिखाई देते हैं। किसी नगर के हवाई सर्वेक्षण करने पर जैसे हजारों वल्व टिमटिमाते दृष्टिगोचर होते हैं। वैसे ही साधक को छोटे रूप में हजारों दीपक जलते हुए दीखते हैं। कभी ऐसा भी अनुभव होता है जैसे किसी बारात के स्वागत के लिए मण्डप को सजाया गया हो। प्रकाश द्वारा सुसज्जित यह किसी प्रकार के भी चित्र हो सकते हैं।

त्राटक में जब स्थिरता की अनुभूति होती है तो मानवीय चित्र उभर कर आते हैं। यह चित्र उस वस्तु के विशिष्ट सूक्ष्म गुणों के अनु-

रूप ही होते हैं। सोने में राजसिकता का गुण है अत: उसमें राजसी चित्रों का दिखाई देना स्वाभाविक ही है। चित्र किसी प्रकार के भी हों परन्तु वे राजसी ठाट-बाट के प्रतीक ही होंगे। बच्चों, युवकों और स्त्री-पुरुषों के चित्र दृष्टिगोचर होते हैं। परन्तु ऐसा लगता है कि वे धनवान घरानों से सम्बन्धित और आधुनिक फैशन के द्योतक हैं। स्त्री-पुरुष एक साथ भी हो सकते हैं। राजा-रानी के भी दर्शन होते हैं। साधक विशाल बाग-बगीचों, बहु-मञ्जिली भवनों और रंगमहलों के स्पष्ट चित्र छोटे आकार में देखता है। ऐसा लगता है जैसे राजसी उत्तेजना की हर वस्तु सोने में संग्रहीत हो गई है।

ऐसा लगता है कि कामुक दृश्य सोने के अणु-अणु में भरे हुए हैं और वह धीरे-धीरे उभर रहे हैं। अर्द्धनग्न युवतियाँ स्नान के वेष में दिखाई देती हैं। युवक और युवतियाँ एक दूसरे को कामुक भावना से देखते हुए प्रतीत होते हैं। आपस में अठखेलियाँ करते हैं, नाव में बैठे हुए काम क्रीड़ाएँ करते हैं।

यह अथवा इससे मिलते जुलते अन्य कामुक दृश्य त्राटक साधना में उभर सकते हैं। इससे काम वासना उद्दीप्त होगी और श्वास की गति तीव्र गति से बढ़ जाएगी। यह साधना अध्यात्म पथ के पथिक के लिए हानिकारक और त्याज्य हैं।

सोने के त्राटक से इसके राजसिक गुण की पुष्टि होती हैं। वास्तव में दुल्हन को सोने के जेवरात से इसलिए लाद दिया जाता है कि उसे देखकर दूल्हा में काम वासना उद्दीप्त हो और दुल्हन में कामवृत्ति निरन्तर बनी रहे। जब तक सोने के जेवरात का प्रचलन बन्द नहीं होता तब तक अश्लीलता और कामुकता की निवृत्ति सम्भव नहीं है।

आत्मिक उत्थान के साधक को चाहिए कि वह सोने का प्रयोग बन्द कर दे अन्यथा काम रूपांतरण की साधना में बाधा उपस्थित हो सकती है।

* समाप्त *

अ. भा. ओंकार परिवार की स्थापना

ॐ परमात्मा का सर्वश्रेष्ठ व स्वाभाविक नाम है। इसे मन्त्र शिरोमणि, मन्त्र सम्राट, मन्त्र राज, बीजमन्त्र और मन्त्रों का सेतु आदि उपाधियों से विभूषित किया जाता है। इसे श्रेष्ठतम् महानतम् और पवित्रतम् मन्त्र की संज्ञा भी दी जाती है। सारे विश्व में इसकी तुलना का कोई मन्त्र नहीं है। ॐ सभी मन्त्रों को अपनी शक्ति से भावित करता हैं। सभी मन्त्रों की शक्ति ओंकार की ही शक्ति है। यह शक्ति और सिद्धिदाता है। भौतिक व आत्मिक उत्थान के लिये कोई भी दूसरी श्रेष्ठ व सरल साधना नहीं है।

सभी ऋषिमुनि ॐ की शक्ति और साधना से ही अपना आत्मिक उत्थान करते रहे हैं। परन्तु आज आश्चर्य है कि ॐ का अन्य मन्त्रों की तरह व्यापक प्रचार नहीं है। इस कमी का अनुभव करते हुए अ० भा० ओंकार परिवार की स्थापना की गई है। आप भी अपने यहाँ इसका एक प्रचार केन्द्र स्थापित करें। शाखा स्थापना का सारा साहित्य निःशुल्क रूप से प्रधान कार्यालय, बरेली से मँगवा लें, आपको केवल इतना करना है कि स्वयं ओंकारोपासना आरम्भ करके ४ अन्य मित्रों व सम्बन्धियों को प्रेरित करें और सभी सङ्कल्प पत्र व शाखा स्थापना का प्रार्थना पत्र प्रधान कार्यालय को भिजवा दें। इस वर्ष २७००० साधकों द्वारा ९०० करोड़ मन्त्रों के जप का महापुरश्चरण पूर्ण किया जाना है। आशा है ओंकार को जन-जन का मन्त्र बनाने के इस श्रेष्ठतम् आध्यात्मिक महायज्ञ में सम्मिलित होकर महान् पुण्य के भागी बनेंगे।

विनीत :—

चमनलाल गौतम

संस्कृति संस्थान

ख्वाजाकुतुब, वेदनगर, बरेली-२४३००३ (उ प्र.)

एक मौन व्यक्तित्व का मौन समर्पण

डा० चमनलाल गौतम-एक व्यक्ति का नहीं वरन् ऐसे विशाल धार्मिक संस्थान का नाम है जो सतत् २४ वर्षों से ऋषि प्रणीत आर्ष साहित्य के शोध, प्रकाशन और व्यापक साहित्य प्रचार का कार्य देश विदेश में करता रहा है। यह उनकी तप साधना का ही परिणाम है कि किसी भी आर्थिक सहयोग के बिना वेद, उपनिषद्, दर्शन, स्मृतियां, पुराण व मन्त्र-तन्त्र आदि साधनात्मक साहित्य की ३०० से अधिक पुस्तकों को प्रकाशित करके घर-घर में पहुँचाने की पवित्रतम साधना कर रहे हैं। मन्त्र-तन्त्र, योग, वेदान्त व अन्य धार्मिक विषयों पर १५० खोज पूर्ण ग्रन्थों का लेखन, सम्पादन एक ऐसा अविस्मरणीय व आसाधारण कार्य है जिस पर उनके अथक श्रम, गम्भीर अध्ययन, तप, प्रतिभा और मौलिक सूझ-बूझ की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। स्वस्थ साहित्य की रचना और प्रचार का उनकी जीवन योजना का यह पहला चरण पूरा हुआ।

पिछले २४ वर्षों से लगातार चल रही अध्यात्मिक साधना के महापुरश्चरण का दूसरा चरण भी समाप्त हो रहा है। तीसरे चरण-आध्यात्मिक साधनाओं और अनुभूतियों के विश्वव्यापी विस्तार का शुभारम्भ अ० भा० ओंकार परिवार की स्थापना के साथ वसन्तपञ्चमी की परम पवित्र वेला के साथ हो गया है। अतः उनका शेष जीवन तीसरे चरण की सफलता, ओंकार परिवार की शाखाओं के व्यापक विस्तार के माध्यम से करोड़ों व्यक्तियों को ओंकार साधना में प्रविष्ट करके उच्च आध्यात्मिक भूमिका में प्रशस्त करना, ओंकार अथवा उच्च आध्यात्मिक साहित्य की रचना व प्रचार-प्रसार को समर्पित है।

स्वामी सत्य भक्त

उत्कृष्ट व मौलिक आद्दतोप-ग्रन्थ

१—मंत्र-महाविज्ञान ४ खण्ड	...	३६)
२—मंत्र योग	...	८)
३—वैदिक मंत्र विद्या	...	८)
४—मंत्र शक्ति से रोग निवारण	...	६)
५—मंत्र शक्ति से विपत्ति निवारण	...	६)
६—मंत्र शक्ति से कामना सिद्धि	...	६)
७—मंत्र शक्ति के अद्भुत चमत्कार	...	४)
८—ओंकार सिद्धि	...	६)२५
९—तंत्र महासाधना	...	११)
१०—शारदा तिलक	...	११)
११—लक्ष्मी सिद्धि	...	८)७५
१२—देव रहस्य	...	११)
१३—विष्णु रहस्य	...	३)७५
१४—शिव रहस्य	...	६)
१५—हस्तरेखा महाविज्ञान	..	११)
१६—ज्ञानेश्वरी भगवद्गीता	...	१२)
१७—प्राणायाम के असाधारण प्रयोग	...	६)५०
१८—दास बोध	...	८)
१९—षोडश संस्कार पद्धति	...	८)
२०—दृष्टान्त सरित सागर	...	९)
२१—शक्ति सम्राट कैसे बनें ?	...	४)
२२—चिन्तायें कैसे दूर हों ?	...	३)७५
२३—तंत्र विज्ञान	...	६)
२४—तंत्र रहस्य	...	६)
२५—तंत्र महाविद्या	...	६)
२६—तंत्र महासिद्धि	...	६)

प्रकाशक :— संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, वेद नगर,
बरेली-२४३००३ (उ० प्र०)